

# जिनभाषित

वीर निर्वाण सं. 2536

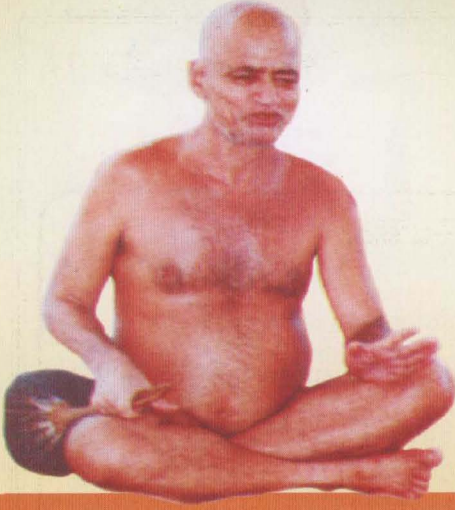


श्री दि. जैन अतिशयक्षेत्र कुण्डलगिरि (कोनीजी)  
पाटन (म.प्र.) में विराजमान तीर्थंकर  
आदिनाथ की मनोहर प्रतिमा

मार्गशीर्ष-पौष, वि.सं. 2066

दिसम्बर, 2009

• मूल्य 15/-



# स्त्री-जाति की कई विशेषताएँ-2

आचार्य श्री विद्यासागर जी

जो अव यानी  
'अवगम'-ज्ञानज्योति लाती है,  
तिमिर-तामसता मिटाकर  
जीवन को जागृत करती है  
अबला कहलाती है वह!

अथवा, जो  
पुरुष-चित्त की वृत्ति को  
विगत की दशाओं  
और  
अनागत की आशाओं से  
पूरी तरह हटाकर  
'अब' यानी  
आगत-वर्तमान में लाती है  
अबला कहलाती है वह...!

बला यानी समस्या संकट है  
न बला.... सो अबला  
समस्या-शून्य-समाधान!  
अबला के अभाव में  
सबल पुरुष भी निर्बल बनता है।  
समस्त संसार ही, फिर,  
समस्या-समूह सिद्ध होता है,  
इसलिए स्त्रियों का यह  
'अबला' नाम सार्थक है!  
'कु' यानी पृथिवी

'मा' यानी लक्ष्मी  
और  
'री' यानी देनेवाली...  
इससे यह भाव निकलता है कि  
यह धरा सम्पदा-सम्पन्ना  
तब तक रहेगी  
जब तक यहाँ 'कुमारी' रहेगी।  
यही कारण है कि  
सन्तों ने इन्हें  
प्राथमिक मंगल माना है  
लौकिक सब मंगलों में...!

धर्म अर्थ और काम पुरुषार्थों से  
गृहस्थ जीवन शोभा पाता है।  
इन पुरुषार्थों के समय  
प्रायः पुरुष ही  
पाप का पात्र होता है,  
वह पाप, पुण्य में परिवर्तित हो  
इसी हेतु स्त्रियाँ  
प्रत्यन शीला रहती हैं सदा।  
पुरुष की वासना संयत हो,  
और  
पुरुष की उपासना संगत हो,  
यानी काम पुरुषार्थ निर्दोष हो,  
बस, इसी प्रयोजनवश  
वह गर्भ धारण करती है।

'मूकमाटी (पृष्ठ २०३-२०४)' से साभार

## जिनभाषित

सम्पादक  
प्रो. रतनचन्द्र जैन

## कार्यालय

ए/2, मानसरोवर, शाहपुरा  
भोपाल- 462 039 (म.प्र.)  
फोन नं. 0755-2424666

## सहयोगी सम्पादक

पं. मूलचन्द्र लुहाड़िया, मदनगंज किशनगढ़  
पं. रतनलाल बैनाड़ा, आगरा  
डॉ. शीतलचन्द्र जैन, जयपुर  
डॉ. श्रेयांस कुमार जैन, बड़ौत  
प्रो. वृषभ प्रसाद जैन, लखनऊ  
डॉ. सुरेन्द्र जैन 'भारती', बुरहानपुर

## शिरोमणि संरक्षक

श्री रतनलाल कँवरलाल पाटनी  
(मे. आर.के.मार्बल)  
किशनगढ़ (राज.)  
श्री गणेश कुमार राणा, जयपुर

## प्रकाशक

सर्वोदय जैन विद्यापीठ  
1/205, प्रोफेसर्स कॉलोनी,  
आगरा-282 002 (उ.प्र.)  
फोन : 0562-2851428, 2852278

## सदस्यता शुल्क

शिरोमणि संरक्षक	5,00,000 रु.
परम संरक्षक	51,000 रु.
संरक्षक	5,000 रु.
आजीवन	1100 रु.
वार्षिक	150 रु.
एक प्रति	15 रु.

सदस्यता शुल्क प्रकाशक को भेजें।

## अन्तस्तत्त्व

पृष्ठ

- ◆ काव्य : स्त्री-जाति की कई विशेषताएँ-2  
: आचार्य श्री विद्यासागर जी आ.पृ. 2
- ◆ मुनि श्री क्षमासागर जी की कविताएँ आ.पृ. 3
- ◆ सम्पादकीय : आवाहन, स्थापन, सन्निधापन एवं  
विसर्जन की जैनसिद्धान्त- सम्मत विधियाँ 2
- ◆ प्रवचन : अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग  
: आचार्य श्री विद्यासागर जी 9
- ◆ लेख
  - पूजनविधि : सिद्धा० पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री 11
  - पं० टोडरमल जी और शिथिलाचारी साधु  
: पं० मिलापचन्द्र जी कटारिया 13
  - पञ्चकारणसमवाय आगमोक्त नहीं  
: प्रो० रतनचन्द्र जैन 15
  - चातुर्मास : स्वरूप और परम्पराएँ  
: श्री कलानाथ शास्त्री 18
  - तत्त्वार्थसूत्र में प्रयुक्त 'च' शब्द का विश्लेषणात्मक  
विवेचन (सप्तम अंश) : पं० महेशकुमार जैन 21
  - एक मार्मिक अपील : रमेशचन्द्र मनयां 23
- ◆ जिज्ञासा-समाधान : पं. रतनलाल बैनाड़ा 24
- ◆ ग्रन्थ समीक्षा :
  - आचार्य विद्यासागर महाराज और उनका 'भावनाशतकम्'  
: डॉ० शिखरचन्द्र जैन 27
- ◆ सभी जैनों के द्वारा --- प्रेषणीय पत्र 30
- ◆ समाचार 8, 13, 20, 22, 32

लेखक के विचारों से सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

'जिनभाषित' से सम्बन्धित समस्त विवादों के लिये न्यायक्षेत्र भोपाल ही मान्य होगा।

## आवाहन, स्थापन, सान्निधापन एवं विसर्जन की जैनसिद्धान्त-सम्मत विधियाँ

आजकल मन्दिर में प्रतिष्ठित जिनप्रतिमा के विराजमान रहने पर भी पूजा करनेवाले प्रतिमा के सामने ही ठोना रखकर 'अत्र अवतर अवतर' (यहाँ उतरिये, यहाँ उतरिये) "अत्र तिष्ठ तिष्ठ" (यहाँ ठहरिये, यहाँ ठहरिये), "मम सन्निहितो भव भव" (मेरे निकट होइये, मेरे निकट होइये) कहते हुए जिनेन्द्र से अनुरोध करते हैं कि वे सिद्धशिला से उतरकर ठोने पर आकर विराजमान हो जायँ और मेरे निकटवर्ती बन जायँ। यह आग्रह करते हुए वे ठोने पर कुछ पुष्प या अक्षत रख देते हैं, और उन्हें सिद्धशिला से उतरकर आया हुआ जिनेन्द्रदेव मान लेते हैं, फिर उनकी पूजा करते हैं। यह संकल्पित जिन की अर्थात् जिन के अक्षतादिरूप प्रतीक की पूजा है। प्रतिष्ठित जिनप्रतिमा के विद्यमान रहते हुए जिनेन्द्र के अक्षतादिरूप प्रतीक की पूजा करना जैनसिद्धान्त के प्रतिकूल है, यह प्रतिष्ठित प्रतिमा का अनादर है। तथा आवाहन (जिनेन्द्रदेव को सिद्धशिला से बुलाना), स्थापन (उनसे ठोने पर बैठने का आग्रह करना) सान्निधीकरण (अपने समीप होने का अनुरोध करना) तथा विसर्जन (पूजा के बाद वापिस लौट जाने का निवेदन करना) के उपचार भी जैनसिद्धान्त-सम्मत नहीं हैं, क्योंकि जो जिनेन्द्रदेव सिद्ध होकर सिद्धालय में विराजमान हो गये हैं, वे पुनः मध्यलोक में नहीं आ सकते। इसलिए उन्हें बुलाना असंगत है।

जैनसिद्धान्तसम्मत जिनपूजाविधि का सर्वप्रथम उल्लेख श्री सोमदेवसूरि (१०वीं सदी ई०) के यशस्तिलक चम्पूगत 'उपासकाध्ययन' में मिलता है। उसमें पूजा के दो प्रकार बतलाये गये हैं : जिनप्रतिमापूजा और संकल्पित-जिनपूजा (कल्पित जिन की पूजा अर्थात् अक्षत, पुष्प आदि को जिनेन्द्रदेव मान कर उनकी पूजा)। यथा-

"द्वये देवसेवाधिकृताः सङ्कल्पिताप्तपूज्यपरिग्रहः कृतप्रतिमापरिग्रहाश्च। सङ्कल्पोऽपि दलफलोपलादिष्विव न समयान्तरप्रतिमासु विधेयः। यतः-

शुद्धे वस्तुनि सङ्कल्पः कन्याजन इवोचितः।

नाकारान्तरसङ्क्रान्ते यथा परपरिग्रहे ॥ ४४७ ॥"

(श्रावकाचारसंग्रह / भाग १ / पृ० १७३)

**अनुवाद-** "देवपूजा दो प्रकार से की जाती है : संकल्पित जिनेन्द्र को पूजकर एवं जिनप्रतिमा को पूजकर। (वे पुष्प, फल, पाषाण आदि जिन्हें जिनेन्द्रदेव मान लिया जाता है, संकल्पित जिन कहलाते हैं। इन्हें जिनप्रतीक (जिनेन्द्रदेव के प्रतीक) भी कहा जा सकता है। संकल्प (जिनेन्द्र देव की कल्पना) भी पुष्प फल, पाषाण आदि में ही किया जाना चाहिए, न कि अन्य मत की देवप्रतिमाओं में, क्योंकि जैसे कन्या (कुमारी युवती) में ही वधू का संकल्प किया जाता है, विवाहिता स्त्री में नहीं, वैसे ही शुद्ध वस्तु में ही जिनदेव की कल्पना करनी चाहिए, अन्य देव का आकार धारण कर लेनेवाली वस्तु में नहीं।" **संकल्पित जिन-पूजाविधि में आवाहन आदि नहीं**

संकल्पितजिन की पूजा विधि बतलाते हुए सोमदेवसूरि कहते हैं-

अर्हन्तनुमध्ये दक्षिणतो गणधरस्तथा पश्चात्।

श्रुतगीः साधुस्तदनु च पुरोऽपि दृगवगमवृत्तानि ॥ ४४८ ॥

भूर्जे फलके सिचये शिलातले सैकते क्षितौ व्योम्नि।

हृदये चैते स्थाप्याः समयसमाचारवेदिभिर्नित्यम् ॥ ४४९ ॥ (वही)

**अनुवाद-** "पूजाविधि के ज्ञाताओं को सदा अरहन्त और सिद्ध (अतनु) को मध्य में, आचार्य (गणधर)

को दक्षिण में, उपाध्याय (श्रुतगी) को पश्चिम में, साधु को उत्तर में और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र को पूर्व में क्रमशः भोजपत्र, लकड़ी के पटिये, वस्त्र, शिलातल, रेत और पृथ्वी पर तथा आकाश और हृदय में (यथासंभव पुष्प, फल, पाषाण आदि रखकर उनमें) स्थापित करना चाहिए।”

यहाँ “अत्र अवतर अवतर,” “अत्र तिष्ठ तिष्ठ” कहकर जिनेन्द्रदेव को सिद्धशिला से बुलाकर पूजास्थल के ठोने पर स्थापित करने के लिए नहीं कहा गया है, अपितु भूर्जपत्र आदि में अक्षतादि रखकर उनमें जिनेन्द्रदेव की कल्पना करने के लिए (उन्हें जिनेन्द्रदेव मान लेने के लिए) कहा गया है। इसे ही यहाँ स्थापना नाम दिया गया है (स्थाप्यः)। यही अतदाकार स्थापना है। इस तरह सोमदेवसूरि-कथित संकल्पितजिन-पूजाविधिवाली स्थापना वर्तमान में प्रचलित “अत्र अवतर अवतर, अत्र तिष्ठ तिष्ठ”-वाली स्थापना से बिलकुल भिन्न है। तथा इसमें उपर्युक्त प्रकार से संकल्प या स्थापना कर के पंचपरमेष्ठी और रत्नत्रय की अष्ट द्रव्य से पूजा करने और उसके बाद स्तवन करने के लिए कहा गया है-

**जिनसिद्धसूरिदेशकसाधुश्रद्धानबोधवृत्तानाम्।**

**कृत्वाष्टतयीमिष्टिं विदधामि ततः स्तवं युक्त्या ॥ ४५९ ॥**

(उपासकाध्ययन / श्रावकाचारसंग्रह / भाग १ / पृ० १७४)

**अनुवाद-** “जिन (अरहन्त), सिद्ध, सूरि (आचार्य), देशक (उपाध्याय), साधु, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की अष्टतयी (अष्टद्रव्यात्मक) इष्टि (पूजा) करके युक्तिपूर्वक स्तवन करता हूँ।”

चूँकि इस संकल्पितजिन-पूजाविधि में आवाहन नहीं किया जाता, इसलिए इसमें विसर्जन भी नहीं बतलाया गया है। सन्निधीकरण का भी इसमें कथन नहीं है।

**जिनप्रतिमा-पूजाविधि में सिद्धाशिलागत जिन का आवाहनादि नहीं**

सोमदेवसूरि ने उपासकाध्ययन में जिनप्रतिमा-पूजाविधि (तदाकारस्थापनावाली पूजाविधि) के छह अंग या उपचार बतलाये हैं : प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना, सन्निधापन (सन्निधीकरण), पूजा और पूजाफल। यथा-

**प्रस्तावना पुराकर्म स्थापना सन्निधापनम्।**

**पूजा पूजाफलं चेति षड्विधं देवसेवनम् ॥ ४९५ ॥**

(श्रावकाचारसंग्रह / भाग १ / पृ० १८०)

यहाँ द्रष्टव्य है कि सोमदेव सूरि ने पूजा के अंगों में आवाहन और विसर्जन आवश्यक नहीं बतलाये और प्रस्तावनादि की विधियाँ इस प्रकार बतलायी हैं-

जिनप्रतिमा के अभिषेक की तैयारी करना प्रस्तावना है। (उपासकाध्ययन / श्लोक ४९६-४९८)। जिस वेदी पर जिनप्रतिमा को स्थापित कर अभिषेक करना है, उस वेदी को शुद्ध करके वेदी के चारों कोनों में जल से भरे कलश स्थापित करना पुराकर्म है। (वही / श्लोक ४९९-५००)। उन कलशों के बीच में रखे हुए स्नानपीठ पर जिनबिम्ब की स्थापना करना स्थापना है, जैसा कि उपासकाध्ययन के निम्न श्लोक से स्पष्ट होता है-

**तीर्थोदकैर्मणिसुवर्णघटोपनीतैः पीठे पवित्रवपुषि प्रविकल्पितार्धे।**

**लक्ष्मीश्रुतागमनबीजविदर्भगर्भे संस्थापयामि भुवनाधिपतिं जिनेन्द्रम् ॥ ५०२ ॥**

(इति स्थापना)

**अनुवाद-** “जो पीठ मणिजटित सुवर्णघटों में लाये गये पवित्र जल से पवित्र किया गया है, जिसे अर्ध दिया गया है और जिस पर श्री ह्री बीजाक्षर लिखे गये हैं, उस पीठ पर तीनों लोकों के स्वामी जिनेन्द्रदेव (जिनप्रतिमा) की स्थापना करता हूँ। (ऐसा संकल्प कर स्नानपीठ पर जिनबिम्ब की स्थापना करना स्थापना नामक अंग है)।

सन्निधापन की विधि पर प्रकाश डालते हुए सोमदेव सूरि कहते हैं-

सोऽयं जिनः सुरगिरिर्ननुपीठमेतदेतानि दुग्धजलधेः सलिलानि साक्षात्।  
इन्द्रस्त्वहं तव सवप्रतिकर्मयोगात्पूर्णा ततः कथमियं न महोत्सवश्रीः॥ ५०३॥

(इति सन्निधापनम्)

अनुवाद- “यह जिनबिम्ब ही साक्षात् जिनेन्द्रदेव है, यह स्नानपीठ साक्षात् सुमेरुपर्वत है, घटों में भरा हुआ जल साक्षात् क्षीरसागर का जल है और आपके अभिषेक के लिए इन्द्र का रूप धारण करनेवाला मैं साक्षात् इन्द्र हूँ, तब अभिषेक-महोत्सव की शोभा पूर्ण क्यों नहीं होगी? ऐसा संकल्प करना सन्निधापन है।”

जिनप्रतिमा की आरती उतारना, जलादि से अभिषेक करना अष्टद्रव्य से अर्चा करना, स्तोत्र पढ़ना आदि पूजा नामक अंग है। (वही/श्लोक ५११-५२६)। तथा “है भगवन्। जब तक आपका परम-पदरूप स्थान मुझे प्राप्त न हो, तब तक सदा आपके चरणों में मेरी भक्ति रहे, सब प्राणियों के साथ मेरा मैत्रीभाव रहे, मेरी ऐश्वर्यरत मति सबका आतिथ्यसत्कार करने में संलग्न हो, मेरी बुद्धि अध्यात्मतत्त्व में लीन रहे, ज्ञानीजनों के प्रति मेरा स्नेहभाव रहे और मेरी चित्तवृत्ति सदा परोपकार में लगी रहे--- इत्यादि कामना करना पूजाफल कहलाता है।” (वही/श्लोक ५२८-५३०)।

इन उपचारों में आवाहन और विसर्जन नामक उपचार तो हैं ही नहीं और स्थापना तथा सन्निधापन के उपचार भी असंगत नहीं हैं, क्योंकि इनमें जिनेन्द्रदेव से सिद्धशिला से उतरकर पूजक के सामने रखे हुए ठोने पर आकर बैठने के लिए नहीं कहा जाता है, जिसका कार्यरूप में परिणत होना सर्वथा असंभव होने से जैनसिद्धान्त के विरुद्ध है। मूलपीठ पर विराजमान जिनप्रतिमा का वहाँ से उठाकर स्नानपीठ पर स्थापन और पूजक का स्वयं को इन्द्र, स्नानपीठ को सुमेरु आदि मानने-रूप सन्निधापन भी संभव हैं। अतः सोमदेवसूरि द्वारा कथित स्थापना और सन्निधीकरण के उपचार जैनसिद्धान्तानुकूल हैं। यदि मूलपीठ पर विराजमान जिनबिम्ब को स्नानपीठ तक लाने की क्रिया आवाहन मान ली जाय और अभिषेक पूजन के बाद उसे पुनः मूलपीठ पर विराजमान कर देने को विसर्जन माना जाय, तो ये उपचार भी असंभव न होने से जैनसिद्धान्त के अनुकूल होंगे।

पं० वामदेव (१५वीं शती ई०) ने भी संस्कृत भावसग्रह में जिनप्रतिमा-पूजाविधि के अन्तर्गत स्थापना आदि की ये ही जैनसिद्धान्तानुकूल विधियाँ प्ररूपित की है। वे लिखते हैं-

स्नानपीठं दृढं स्थाप्य प्रक्षाल्य शुद्धवारिणा।  
श्रीबीजं च विलिख्यात्र गन्धाद्यैस्तत्पूजयेत्॥ ३७॥  
परितः स्नानपीठस्य मुखार्पितसपल्लवान्।  
पूरितांस्तीर्थसत्तोयैः कलशांश्चतुरो न्यसेत्॥ ३८॥  
जिनेश्वरं समभ्यर्च्य मूलपीठोपरिस्थितम्।  
कृत्वाह्वानविधिं सम्यक् प्रापयेत्स्नानपीठिकाम्॥ ३९॥  
कुर्यात्संस्थापनं तत्र सन्निधानविधानकम्।  
नीराजनैश्च निर्वृत्य जलगन्धादिभिर्यजेत्॥ ४०॥  
इन्द्राद्यष्टदिशापालान् दिशाष्टासु निशापतिम्।  
रक्षोवरुणयोर्मध्ये शेषमीशानशक्रयोः॥ ४१॥  
न्यस्याह्वनादिकं कृत्वा, क्रमेणैतान्मुदं नयेत्।  
बलिप्रदानतः सर्वान् स्वस्वमन्त्रैर्यथादिशम्॥ ४२॥  
ततः कुम्भं समुद्धार्य तोयचोचेक्षुसद्रसैः।  
सदृघृतैश्च ततो दुग्धैर्दधिभिः स्नापयेज्जिनम्॥ ४३॥

तीर्थैः प्रक्षाल्य सच्चूर्णैः कुर्यादुद्धर्तनक्रियाम्।  
 पुनर्नीराजनं कृत्वा स्नानं कषायवारिभिः ॥ ४४ ॥  
 घतुष्कोणस्थितैः कुम्भैस्ततो गन्धाम्बुपूरितैः।  
 अभिषेकं प्रकुर्वीरन् जिनेशस्य सुखार्थिनः ॥ ४५ ॥  
 स्वोत्तमाङ्गं प्रसिञ्च्यथ जिनाभिषेकवारिणा।  
 जलगन्धादिभिः पश्चादर्चयेद्विम्बमर्हतः ॥ ४६ ॥  
 स्तुत्वा जिनं विसर्ज्यापि दिगीशादिमरुद्गणान्।  
 अर्चिते मूलपीठेऽथ स्थापयेज्जिननायकम् ॥ ४७ ॥

(श्रावकाचारसंग्रह / भाग ३ / पृ. ४६७-४६८)

**अनुवाद-** "स्नानपीठ को दृढ़ता से स्थापित कर, शुद्ध जल से धोकर तथा उस पर 'श्री' बीजाक्षर लिखकर गन्ध आदि से उसे पूजा चाहिये। उसके बाद स्नानपीठ के चारों ओर, जिनके मुख पर पल्लव रखे हों तथा जो पवित्र जल से भरे हों, ऐसे चार कलश स्थापित करना चाहिए। तत्पश्चात् मूलपीठ पर विराजमान जिनेश्वर की अर्चना कर आह्वानविधि करके उन्हें विनयपूर्वक स्नानपीठ तक पहुँचाना चाहिए और उस पर उनकी स्थापना और सन्निधापन करना चाहिए। फिर आरती करके उन्हें जल, गन्ध आदि से पूजा चाहिए।" (३७-४०)।

"तदनन्तर इन्द्रादि अष्ट दिक्पालों (दिशारक्षाकों) का आह्वानकर, उन्हें आठ दिशाओं में, चन्द्रमा का आह्वानकर ऊर्ध्व दिशा में तथा धरणेन्द्र को आह्वानपूर्वक अधोदिशा में स्थापित कर उनके अपने-अपने मन्त्रों के साथ उन्हें बलि (पूजाद्रव्य) प्रदान कर प्रसन्न करना चाहिए।" (४१-४२)।

"फिर घट उठाकर जल, नारिकेल एवं इक्षु के रस, उत्तमघृत, दूध तथा दही से जिनेन्द्रदेव का स्नान करे। तत्पश्चात् जल से प्रक्षालित कर उत्तम चूर्णों से उनका उपटन करे। उसके बाद आरती उतारकर सुगन्धित जल से स्नान कराये। तदनन्तर चारों कोनों में रखे हुए सुगन्धित जल से परिपूर्ण चारों कलशों से सुखाभिलाषी जन जिनेन्द्र का अभिषेक करें। फिर जिनाभिषेकजल को अपने मस्तक पर छिड़कने के बाद जलगन्धादि से जिनबिम्ब की पूजा की जाय। पूजा सम्पन्न होने के बाद जिनदेव की स्तुति करनी चाहिए। उसके बाद दिक्पालादि देवों को विसर्जन करके, जिनेन्द्र देव को अर्चित मूलपीठ पर विराजमान कर देना चाहिए।" (४३-४७)।

इन श्लोकों से स्पष्ट होता है कि पं० वामदेव के अनुसार जिनप्रतिमा को मूलपीठ से उठाकर स्नानपीठ तक पहुँचाना आवाहनविधि है, स्नानपीठ पर स्थापित करना स्थापनाविधि है और इस प्रकार जिनेन्द्रदेव को पूजक द्वारा अपने समीप कर लेना सन्निधापन विधि है। तथा अभिषेक-पूजन के पश्चात् जिनबिम्ब को स्नानपीठ से उठाकर मूलपीठ पर स्थापित कर देने की क्रिया विसर्जन मानी जानी चाहिए। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि पं० वामदेव जी ने जिनेन्द्रदेव के विसर्जन का नियम नहीं बतलाया, अपितु दश दिक्पालों के विसर्जन की बात कही है।

**प्राकृत भावसंग्रह में जिनेन्द्र के आवाहनादि का उल्लेख ही नहीं**

आचार्य देवसेन (१०वीं शती ई०) ने अपने प्राकृत 'भावसंग्रह' में जिनप्रतिमा-पूजाविधि के अन्तर्गत जिनेन्द्रदेव के आवाहन, स्थापन, सन्निधीकरण एवं विसर्जन का उल्लेख ही नहीं किया, केवल जिनप्रतिमा के अभिषेक और पूजन करने का कथन किया है। हाँ, दश दिक्पालों के विषय में अवश्य कहा गया है कि उनका आह्वान कर उन्हें पूजाद्रव्य, बलि, चरु (नैवेद्य) और यज्ञभाग दिया जाय। किन्तु उनकी स्थापना एवं विसर्जन की चर्चा नहीं की गई। देखिए, देवसेनकृत प्राकृतभावसंग्रह की निम्नलिखित गाथाएँ-

अंगे णासं किच्चा इंदो हं कप्पिऊण णियकाए।  
 कंकण सेहर मुद्दी कुणओ जण्णोपयीयं च॥ ८७॥  
 पीढं मेरुं कप्पिय तस्सोवरि ठाविऊण जिणपडिमा।  
 पच्चक्खं अरहंतं चित्ते भावेउ भावेण॥ ८८॥  
 कलसचउक्कं ठाविय चउसु वि कोणेसु णीरपरिपुण्णं।  
 घयदुद्धदहियभरियं णवसय-दल-छण्णमुह-कमलं॥ ८९॥  
 आवहिऊण देवे सुरवइसिहिकालणेरिए वरुणे।  
 पवणे जखे ससूली सपियसवाहणे ससत्थे य॥ ९०॥  
 दाऊण पुज्जदव्वं बलिचरुयं तह य जण्णभावयं च।  
 सव्वेसिं मंतेहि य वीजक्खरणामजुत्तेहि॥ ९१॥  
 उच्चारिऊण मंते अहिसेयं कुणउ देवदेवस्स।  
 णीरधयखीरदहियं खिवउ अणुक्कमेण जिणसीसे॥ ९२॥  
 पहवणं काऊण पुणो अमलं गधोवयं च वंदित्ता।  
 सवलहणं च जिणिंदे कुणऊ कस्सीरमलाएहि॥ ९३॥

**अनुवाद-** '--- तत्पश्चात् अंगन्यास करके 'मैं इन्द्र हूँ' ऐसी कल्पना करते हुए कंकण, मुकुट, मुद्रिका और यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए। (८७)। तदनन्तर स्नानपीठ में सुमेरु की कल्पना करके उसके ऊपर जिनप्रतिमा स्थापित करे और मन में ऐसी भावना करे कि ये साक्षात् अरहन्त भगवान् विराजमान हैं। (८८) उसके बाद स्नानपीठ के चारों कोनों में जल से परिपूर्ण चार कलश स्थापित कर घी, दूध, दही से भरे और शतपत्रकमल से ढँके हुए कलश स्थापित करने चाहिए। (८९)। पुनः इन्द्र, अग्नि, काल (यम), नैऋत, वरुण, पवन, कुबेर, ईशान, धरणेन्द्र और चन्द्र इन दश दिक्पालों का उनकी पत्नी, वाहन और शस्त्रसहित आवाहन कर और उन्हें बीजाक्षर नाम से युक्त मंत्रों के साथ पूजाद्रव्य, बलि, नैवेद्य और यज्ञभाग देकर मन्त्रोच्चारपूर्वक अरहन्तदेव का अभिषेक करना चाहिए और अनुक्रम से जिनदेव के मस्तक पर जल, घी, दूध और दही की धारा छोड़नी चाहिए। (९०-९२)। इस प्रकार भगवान् का अभिषेक करके और निर्मल गन्धोदक का वन्दन करके केसर और चन्दन आदि से भगवान् का उद्वर्तन (उवटन) करना चाहिए।' (९३)।

इसके बाद सिद्धचक्रादि यंत्रों का लेखन कर उनके द्वारा पंचपरमेष्ठी की पूजा का निर्देश किया गया है। (प्राकृत भावसंग्रह/गाथा ९४-११९)। तत्पश्चात् स्नानपीठ पर विराजित प्रतिमा की अष्टद्रव्यों से पूजा सम्पन्न करने की बात कही गई है। यथा-

**अट्टविहच्चण काउं पुव्वपउत्तमि ठावियं पडिमा।**

**पुज्जेह तग्गयमणो विविहहि पुज्जाहिं भत्तीए॥ १२०॥**

**अनुवाद-** "इस प्रकार अष्ट द्रव्य से यंत्रों के द्वारा पंचपरमेष्ठी की पूजा करके अभिषेक के लिए पहले से विराजमान की हुई प्रतिमा में मन लगाकर उसकी भक्तिपूर्वक विविधि द्रव्यों से पूजा करनी चाहिए। (१२०)।"

यहाँ द्रष्टव्य है कि आचार्य देवसेन ने आवाहन आदि के नाम ही नहीं लिये। अर्थात् उन्होंने सिद्धशिला से भगवान् को बुलाकर ठोने पर बैठाने-रूप आवाहन, स्थापना आदि के उपचार आवश्यक नहीं बतलाये, इससे सिद्ध है कि वे इन्हें जैनसिद्धान्तानुकूल नहीं मानते। तथा उन्होंने अभिषेक-पूजन के लिए जिनप्रतिमा को मूलपीठ से उठाकर स्नानपीठ पर स्थापित करना आवश्यक बतलाया है, इससे ज्ञात होता है कि उनके अनुसार स्थापना की यही विधि जैनसिद्धान्तानुकूल है।



दिक्पालों के आह्वानादि के स्थान में जिनेन्द्र के आह्वानादि का प्रचलन

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि दिगम्बरजैन-परम्परा में सिद्धशिलागत जिनेन्द्रदेव के आवाहन आदि का नियम न तो संकल्पित जिन (अतदाकारस्थापना) की पूजाविधि में था, न ही जिनप्रतिमा (तदाकारस्थापना) की पूजाविधि में। परवर्ती पूजकों ने उसका प्रवेश दोनों पूजाविधियों में करा दिया। जिनप्रतिमा-पूजाविधि में उसका प्रवेश तो हम वर्तमान में प्रत्यक्ष देख रहे हैं और संकल्पितजिन-पूजाविधि में प्रवेश की सूचना प्रतिष्ठादीपक के निम्न श्लोकों से मिलती है-

साकार च निराकारा स्थापना द्विविधा मता।  
अक्षतादिनिराकारा साकारा प्रतिमादिषु॥  
आह्वानं प्रतिष्ठानं सान्निधीकरणं तथा।  
पूजा विसर्जनं चेति निराकारे भवेदिति॥  
साकारे जिनबिम्बे स्यादेक एवोपचारकः।  
स चाष्टविध एवोक्तं जलगन्धाक्षतादिभिः॥

(श्रावकाचारसंग्रह / भाग ४ / प्रस्तावना / पृ. १३४ से उद्धृत)

इसका कारण स्पष्ट है। सोमदेवसूरि, देवसेन एवं पं० वामदेव ने अभिषेक से पहले विघ्नों की शान्ति के लिए इन्द्रादि दश दिक्पालों के आह्वानादि का विधान किया है। अज्ञानता के कारण वह आगे चलकर सिद्धशिला-स्थित जिनेन्द्रदेव के लिए किया जाने लगा। सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने इसका सप्रमाण प्ररूपण उपासकाध्ययन की प्रस्तावना (पृष्ठ ५२-५३) में किया है। उसे एक स्वतंत्र लेख के रूप में आगे उद्धृत किया जा रहा है।

ठोने का प्रयोग भी तभी से

जिनेन्द्रदेव को सिद्धशिला से बुलाकर ठोने पर स्थापित करने की प्रथा भी तभी से प्रचलित हुई है, जब से दिक्पालों के आवाहन-स्थापन की प्रथा जिनेन्द्रदेव पर आरोपित की गयी। इसके पूर्व तो जिनप्रतिमा को स्नानपीठ पर स्थापित किया जाता था और अभिषेक-पूजन के बाद ही उसे पुनः मूलपीठ पर विराजमान किया जाता था। उस समय तक ठोने (जो कि बड़ा होता था) का प्रयोग पूजा द्रव्य रखने के लिए किया जाता था, जैसा कि श्रुतसागर सूरि के निम्न वचन से ज्ञात होता है-

“सुप्रीतिका विचित्रचित्रमयी पूजाद्रव्यस्थापनार्हा स्तम्भाधारकुम्भी।” (दंसणपाहुड / टीका / गाथा ३५)।

अर्थात् पूजाद्रव्य को स्थापित करने योग्य, स्तंभों पर आधारित विचित्र चित्रों से युक्त कुम्भी (ओठदार गहरा पात्र) सुप्रीतिका (ठोना) कहलाती है।

एक जिन या जिनालय से सभी जिनों या जिनालयों की पूजा संभव

कुछ लोग कहते हैं कि जिनालय में जिन तीर्थकर-विशेष की प्रतिमा विद्यमान नहीं है, उनकी पूजा के लिए ठोने पर पुष्प आदि रखकर उनमें उन तीर्थकर की सिद्धशिला से आवाहन करके स्थापना आवश्यक है। यह मान्यता समीचीन नहीं है। आगम में कहा गया है कि अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख आदि के द्वारा अनन्त जिन एकत्व को प्राप्त हैं। इसलिए उनमें गुणों की अपेक्षा कोई भेद नहीं है, अतएव एक जिन या जिनालय की वन्दना से सभी जिनों या जिनालयों की वन्दना हो जाती है-

“अणंतणाण-दंसण-विरिय-सुहादिदुवारेण एयत्तभावण्णेषु अणंतेषु जिणेषु एयवंदणाए सव्वेसिं पि वंदणवुवत्तीदो।” (जयधवला / कसायपाहुड / भाग १ / अनुच्छेद ८७ / पृ. ११२)।

वन्दना पूजन का ही अंग हैं। अतः एक जिन या जिनालय की पूजा से सभी जिनों या जिनालयों की पूजा हो जाती है। इसलिए जिन तीर्थकर की प्रतिमा मन्दिर में प्रतिष्ठित नहीं है, उनकी पूजा भी अन्य तीर्थकर की प्रतिष्ठित प्रतिमा के आश्रय से की जा सकती है। अतः पुष्पादि में स्थापना की आवश्यकता

नहीं होती।

हुण्डावसर्पिणीकाल में अक्षत-पुष्पादि में जिनेन्द्र की स्थापना का निषेध

तथा आचार्य वसुनन्दी ने वसुनन्दी-श्रावकाचार में कहा है-

हुण्डावसर्पिणीए विइया ठवणा ण होदि कायव्वा।

लोगे कुलिंगमइमोहिए जदो होइ संदेहो॥ ३८५॥

अनुवाद- “हुण्डावसर्पिणीकाल में दूसरी असद्भाव अर्थात् अतदाकार स्थापना (संकल्पित-जिनपूजा) नहीं करनी चाहिए, क्योंकि कुलिंगमतियों (अन्यधर्मों) से मोहित इस लोक में संदेह हो सकता है।”

अर्थात् अतदाकार स्थापना का प्रेमी कोई जैन श्रावक अन्यधर्मी देव की मूर्ति में जिनेन्द्रदेव की स्थापना कर पूजा कर सकता है, तब लोगों को यह सन्देह हो सकता है कि यह अन्यधर्मी देव का भक्त है। वर्तमान पंचमकाल हुण्डावसर्पिणी का काल है। अतः वसुनन्दी के कथनानुसार भी अतदाकार अक्षत-पुष्पादि में जिनेन्द्र की स्थापना नहीं करनी चाहिए।

सार यह कि जिनप्रतिमापूजा या संकल्पितजिन-पूजा में सिद्धशिला पर सिद्धरूप में स्थित जिनेन्द्र का आवाहन-स्थापन करना अंसगत है, क्योंकि उनका सिद्धशिला से नीचे आना संभव नहीं है। इसलिए वह जैनसिद्धान्त के प्रतिकूल है, अत एव मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व त्याज्य है। सोमदेवसूरि, देसवेन तथा पं० वामदेव ने जिनप्रतिमापूजा में स्थापन और सन्निधापन की जो विधियाँ बतलायी हैं, वे ही जैनसिद्धान्त-सम्मत हैं। जिनप्रतिमा को मूलपीठ से स्नानपीठ तक लाने और अभिषेक-पूजन के बाद उसे पुनः मूलपीठ पर स्थापित कर देने को आवाहन और विसर्जन कहना भी जैनसिद्धान्त-सम्मत माना जा सकता है। अतः जिनप्रतिमापूजा में इन्हीं पाँच उपचारों को सम्पन्न करना चाहिए। संकल्पित-जिनपूजा का हुण्डावसर्पिणीकाल में निषेध है तथा जिनबिम्ब के दर्शन-पूजन से जो सम्यग्दर्शन एवं वैराग्यभाव की उत्पत्ति होती है तथा निधत्त और निकाचित कर्मों का क्षय होता है, वह संकल्पित-जिनपूजा (अतदाकार स्थापना) में संभव नहीं है, क्योंकि उसमें जिनबिम्ब के दर्शन नहीं होते। अत एव वह निरर्थक है। प्रतिष्ठित जिनप्रतिमा के अभाव में जिनगुणस्तवनरूप भावपूजा ही जैनसिद्धान्त-सम्मत है, क्योंकि उससे चित्त पवित्र होता है, जैसा कि आचार्य समन्तभद्र ने कहा है- “तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः।” (स्वयम्भूस्तोत्र / ५७)।

रतनचन्द्र जैन

श्री विद्यासागर यात्रा संघ (राजस्थान) के तत्त्वाधान में रत्नत्रयतीर्थ आचार्य श्री  
विद्यासागर जी संसंघ को राजस्थान में लाने हेतु श्रीफल भेंट

सम्माननीय श्री अशोक जी पाटनी (आर० के० मार्बल्स), श्री राजेन्द्र जी गोधा (मुख्य संरक्षक संस्थापक सम्पादक दैनिक समाचार जगत जयपुर) श्री संतोष जी सिंघई, अध्यक्ष कुण्डलपुर तीर्थ व राजस्थान के ४०० श्रावकों के साथ श्री टीकमचन्द्र जी बड़जात्या के नेतृत्व में पाँच सदस्य श्री विनोद जी हूमड़, श्री प्रकाश जी दोषी, महेन्द्र जी बड़जात्या, अंकित बड़जात्या, पदयात्रियों द्वारा ३५० किलोमीटर की १२ दिन में यात्रा निर्विघ्न सम्पन्न कर सकुशल भीलवाड़ा आगमन पर संयोजक प्रभारी प्रभाचन्द्र बाकलीवाल, आर० के० अध्यक्ष कैलाश चन्द्र शाह, एन सी जैन सचिव, मिश्रीलाल अग्रवाल, कमल नयन शाह, महेन्द्र सेठी एडवोकेट, घीसा लाल झाँझरी, पारस गंगवाल, प्रेमचन्द्र सेठी, व सभी दिगम्बर जैनसमाज के गणमान्य व्यक्तियों ने सभी को बधाई दी, और हार्दिक अभिनन्दन, करते हुए सुखद जीवन की कामना की और कहा कि आप पद यात्रियों ने भीलवाड़ा जैनसमाज का गौरव बढ़ाया है व आपनी यात्रा के दौरान मांसनिर्यात बंद करो, देश को बचाओ का जन-जन में प्रचार-प्रसार किया है।

प्रभाचन्द्र बाकलीवाल, भीलवाड़ा

## अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग

आचार्य श्री विद्यासागर जी

श्री सिद्धक्षेत्र कुण्डलपुर (दमोह, म०प्र०) में मई २००७ में आयोजित श्रुत आराधना शिविर में १५ मई २००७ के प्रथम सत्र में विद्वानों की शंकाओं के समाधानार्थ आचार्यश्री द्वारा किये गये प्रवचन का पंचम अंश प्रस्तुत है।

### भेददृष्टि और अभेददृष्टि में रत्नत्रय

कल कहा गया था कि एक भेदपरक दृष्टि है, जिसे आगम की दृष्टि या व्यवहारदृष्टि भी कहते हैं। एक अध्यात्मदृष्टि है, जिसे अभेदपरक दृष्टि भी कहते हैं। इन दोनों में क्या अन्तर है? यह अध्ययन करने से ज्ञात होता है। फिर भी इसका अध्ययन कैसे करना चाहिए, इसमें हम लोगों को अवश्य ही पुरुषार्थ करना चाहिए। दोनों में रत्नत्रय का संबंध है। भेददृष्टि में भी रत्नत्रय है और अभेद दृष्टि में भी रत्नत्रय है। कुन्दकुन्द स्वामी के साहित्य में अभेद की मुख्यता से कथन है। अभेद वृत्ति ध्यानपरक होती है। ध्यान हमें करना है, लेकिन किसका ध्यान करना है, यह जानकारी ध्यान के पहले अवश्य होनी चाहिए। पहले ध्यान की सामग्री का ज्ञान होना चाहिए, फिर बाद में ध्यान करना चाहिए। तब ध्यान लगता है। डाइरेक्ट हम ध्यान लगाना चाहें, तो ध्यान में विसंवाद ही होगा। इसलिए जिन्होंने शरीरातीत अवस्था को प्राप्त कर लिया है, उनको ही हम सर्वप्रथम ध्यान का विषय बनायें, जिसको व्यवहारसम्यग्दर्शन कहते हैं।

कल एक बात कही थी कि आगमदृष्टि में निमित्त को लेकर ही कथन होता है और अध्यात्मदृष्टि में निमित्त को गौण करके, सिर्फ आत्मा को विषय बना करके बात होती है। जो व्यक्ति केवल आत्मा को ही विषय बना करके कुछ प्राप्त करना चाहता है, उसे निश्चय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी, वह व्यवहारसम्यग्दर्शन से ऊपर उठ जाएगा, क्योंकि निश्चयसम्यग्दर्शन की प्राप्ति व्यवहार सम्यग्दर्शन के द्वारा ही होती है, डाइरेक्ट नहीं हुआ करती है, यह निश्चित बात है। आप कोई भी ग्रन्थ पढ़ लीजिये, निश्चयसम्यग्दर्शन डाइरेक्ट प्राप्त नहीं होता। यहाँ पर एक प्रश्न उठ सकता है कि निश्चय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हम डाइरेक्ट कर सकते हैं। जैसे अकलंकदेव ने यद्यपि क्षायिक सम्यग्दर्शन को निश्चय

सम्यग्दर्शन या वीतराग सम्यग्दर्शन कहा है, लेकिन उन्होंने यह नहीं कहा कि इसके साथ शुद्धोपयोग होता है। वहाँ उनकी विवक्षा भिन्न है। वस्तुतः शुद्धोपयोग की भूमिका अभेद रत्नत्रय के साथ ही बनती है, ऐसा आगम का कथन है। इसलिए उस भिन्न-विवक्षावाली बात को सब लोगों के सामने रख करके भ्रम फैलाने का प्रयास मत करो। दूसरी बात यह है कि गुणस्थान को प्राप्त करने की प्रक्रिया होती है। जीव किसी न किसी गुणस्थान में रहते हैं। अविरत चौथे में रहता है, लेकिन ज्यों ही मुनि-अवस्था होती है, उसके तो सबसे पहले शुद्धोपयोग होता है, आगम का ऐसा ज्ञान हुए बिना, उसका अनुभव नहीं होता, अथवा यूँ कहना चाहिए, स्वयं प्रयोग करके देख लो।

आचार्यों ने प्रथम गुणस्थान से सप्तम गुणस्थान प्राप्त करने की प्रक्रिया बताई है। चतुर्थ गुणस्थान से भी सप्तम गुणस्थान प्राप्त कर सकते हैं। पञ्चम गुणस्थान से भी सप्तम गुणस्थान प्राप्त कर सकते हैं। छठे गुणस्थान को भी प्राप्त कर सकते हैं लेकिन छठे गुणस्थान में आने का रास्ता सप्तम से होकर है। यह सिद्धांत ध्रुव है। इसमें किसी भी प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि यही 'लों' है, यही आज्ञा है। अब भेददृष्टि में अकेला सम्यग्दर्शन, ज्ञान भी रह सकता है और भेददृष्टि के द्वारा वीतराग चारित्र भी हो सकता है। लेकिन अभेददृष्टि में अकेला कोई नहीं होगा। क्योंकि तीन के साथ ही वह अभेद को प्राप्त होगा, यह नियम है। कल पानक का एक उदाहरण दिया था। वस्तुतः शास्त्रीय उदाहरण है, अपनी तरफ से नहीं दिया था। इस उदाहरण से हम और अच्छी तरह से समझ सकते हैं। पानक में तीन वस्तुओं की समष्टि होती है। पेय कहने से वे तीनों चीजें आ जाती हैं। अलग-अलग पियोगे, तो पानक नाम नहीं होगा और पानक का स्वाद नहीं आयेगा।

उन तीनों का मिश्रण होने के उपरांत, घोल बनने के बाद, जब हमें प्यास लगी हो, तब पियेंगे तो स्वाद अलग आयेगा। उसमें मीठे का स्वाद, सुगंधी की गंध और जल का भी स्वाद आयेगा। इसी प्रकार व्यवहार रत्नत्रय से ही निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति होगी, यह अकाट्य नियम है। जो व्यक्ति आज चतुर्थगुणस्थान में केवल अपने सम्यग्दर्शन को लेकर के, 'और किसी को सम्यग्दर्शन नहीं है,' ऐसा सोच करके चल रहा है, उसको यह भी सोचना चाहिए कि दूसरों को भी आगमज्ञान है और त्रे भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकते हैं।

यह अहंकार ही प्रक्रिया चालू हो गयी है। यह गलत है। जिसके पास सम्यग्दर्शन है, उसे निश्चय सम्यग्दर्शन का स्वाद आना चाहिए, ऐसी धारणा गलत है। क्योंकि यह क्रम नहीं है। भेद रत्नत्रय से अभेद रत्नत्रय की ओर जाते हैं, न कि अकेले व्यवहार सम्यग्दर्शन से निश्चय सम्यग्दर्शन की ओर जाते हैं। हम पानक का स्वाद लेना चाहेंगे तो तीनों के घोल के बाद ही लेंगे, अन्यथा नहीं। हाँ, पानी का स्वाद पृथक् ले सकते हैं, किन्तु पानक का नहीं। पानक का स्वाद लेना है तो तीनों को घोलना पड़ेगा, तीनों का अभाव होगा। हाथ डालकर देखेंगे तो नहीं मिलेंगे। न शक्कर हाथ आयेगी, न दूध आयेगा, न जल आयेगा, तीनों का समुदाय ही आयेगा। इसप्रकार की अवस्था जब आत्मा की होती है, तो उसका नाम ध्यान है।

पहले ज्ञान प्राप्त करो, बाद में ध्यान प्राप्त करो। अध्यात्मग्रन्थों में मुख्य रूप से ध्यान की ही बात कही गयी है। उसमें भी उन्होंने कहा है कि जो भेदविज्ञान को प्राप्त है, वही व्यक्ति ध्यान में उतर सकता है, बहुत जल्दी और अच्छे से सफल हो सकता है। इसलिए उन्होंने कहा अब देव-शास्त्र-गुरु के आलम्बन की आवश्यकता नहीं है। अब छह द्रव्य, नव पदार्थ, सात तत्त्व, पञ्चास्तिकाय की कोई आवश्यकता नहीं है।

अब समझने की बात है। इस समय तो आपको केवल भेदविज्ञान को स्थिर करना है। स्थिर करने के लिए उन्होंने जो साधन बताया, उसको आप सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का साधन मत बनाओ, वह ध्यान का साधन है। उस ध्यान का नाम उन्होंने निश्चयरत्नत्रय कहा है,

वीतरागविज्ञान कहा है। अथवा वीतरागचारित्र कहा है। उसके साथ तीनों हैं। कहीं वीतरागविज्ञान के द्वारा मुक्ति होना कहा है, तो उसमें बाधा नहीं है। वीतराग संवेदन स्थिर क्यों किया जा रहा है? क्या संवेदन के साथ या संवेदन के द्वारा मुक्ति हो सकती है? ऐसा प्रश्न उठाया गया है। संवेदन में और वीतराग संवेदन में क्या अन्तर है? आचार्यों ने बहुत अच्छे से उत्तर दिया है- 'सर्वेषां संसारिजीवानां संवेदनं तु वर्तते एव', सभी संसारी जीवों के पास स्वसंवेदन तो है ही। आप भी कहते हैं 'मैं हूँ'। यह संवेदन तो सबके पास है।

अहं-प्रत्यय स्वसंवेदन का ही प्रतीक है। फिर आप वीतराग क्यों लगाते हो? संवेदन ही लगाओ। हम यह बताना चाह रहे हैं कि मात्र स्वसंवेदन नहीं होता। स्वसंवेदन के साथ वीतराग होना भी अनिवार्य है। तो अपने आप ही सारे सांसारिक अध्यवसान हट जायेंगे। तो एक मात्र वीतराग स्वसंवेदन सामने आ जायेगा। वह कौन हो सकता है? क्या बीसपंथी हो सकता है? अरे! बावले तुम पंथ की बात कर रहे हो। यहाँ पर आगम के आधार पर, देव के दर्शन करके, जिनबिम्ब को देख करके उनकी अर्चा के आधार पर समर्पित होकर के, जो व्यक्ति उसमें ढलना चाह रहा है, वह न तेरहपंथ की ओर देखेगा, न बीसपंथ की ओर देखेगा और न किसी अन्य पंथ की ओर देखेगा। ये जितने भी पंथ हैं वे सारे के सारे पूजनपद्धति को लेकर ही खड़े हैं और एक दूसरे से झगड़ रहे हैं। न गुरु की बात सुन रहे हैं और न उन्हें आगम से मतलब है, न देव से मतलब है। 'यह घर का है, इसकी कोई आवश्यकता नहीं, यह व्यक्ति ठीक नहीं, यह पंथ ठीक नहीं। यह क्या मामला है?' इस तरह आपस में लड़ते हैं। अभी तक यह भी मालूम नहीं कि जैनागम क्या है? जैनत्व क्या है? सच्चे देव कौन हैं? उनको इससे कोई मतलब नहीं। साक्षात् भगवान् भी आ जायें, तो भी उनकी पहचान नहीं करते हैं। यहाँ पर यह कहा जा रहा है कि परमार्थभूत देव को आधार बनाओ और पूजा, स्थापना करो। इसको तो समझा नहीं और पंथवाद में लग गये, किससे कहे?

'श्रुताराधना' २००७ से साभार

# पूजनविधि

सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री

जिनभाषित के इस अंक के सम्पादकीय में प्रस्तुत तथ्यों एवं प्रमाणों की पुष्टि सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री के नीचे उद्धृत लेख से भी होती है।

उपलब्ध साहित्य में सोमदेव उपासकाध्ययन से पूर्व अन्य किसी ग्रन्थ में भी इस तरह विस्तार से पूजन की विधि मेरे देखने में नहीं आयी है। उत्तरकाल के ग्रन्थकारों में वसुनन्दि ने अपने श्रावकाचार में प्रतिष्ठा की विधि भी बतलायी है, किन्तु पूजन की विधि इतने विस्तार से नहीं बतलायी। पं० आशाधर ने भी दो एक पद्यों के द्वारा संक्षेप में पूजा का क्रम बतलाया है। मेधावी ने भी वसुनन्दि के अनुसार लिखा है।

सोमदेव सूरि ने पूजकों के दो भेद किये हैं— एक पुष्पादि में पूज्य की स्थापना करके पूजन करनेवाले और दूसरे, प्रतिमा का अवलम्बन लेकर पूजन करनेवाले। उन्होंने पूजक को फल, पत्र और पाषाण आदि की तरह अन्य धर्म की मूर्ति में स्थापना करने का निषेध किया है। तथा दोनों प्रकार के पूजकों के लिए अलग-अलग विधि बतलायी है। वसुनन्दि ने सोमदेव के द्वारा विहित उक्त दोनों प्रकारों को असद्भावस्थापना तथा असद्भावस्थापना नाम दिया है। साकार वस्तु (प्रतिमा) में अरहन्त आदि के गुणों का आरोपण करना असद्भावस्थापना है और अक्षत, वराटक (कमलगट्टा) वगैरह में अपनी बुद्धि से 'यह अमुक देव है' ऐसा संकल्प करना असद्भावस्थापना है।<sup>1</sup> वसुनन्दि ने इस काल में असद्भाव स्थापना का निषेध किया है। आशाधर ने निषेध नहीं किया। सम्भवतया प्रतिमा के सामने न होते हुए पुष्पादि में अर्हन्त की स्थापना करके पूजन करने का ही निषेध वसुनन्दिने किया है। इससे भ्रम होने की सम्भावना है। आजकल जिनप्रतिमा के अभिमुख ही पुष्पक्षेपण करके स्थापना की जाती है। वसुनन्दि ने इसे नामपूजा कहा है। उन्होंने पूजा के छह भेद किये हैं— नामपूजा, स्थापनापूजा, द्रव्यपूजा, भावपूजा, क्षेत्रपूजा, और कालपूजा। अरहन्त आदिका नाम उच्चारण करके विशुद्ध प्रदेश में पुष्पक्षेपण करना नामपूजा है। आगे अन्य पूजाओं के लक्षण इस प्रकार दिये हैं, जिनप्रतिमा की स्थापना करके पूजन करना स्थापनापूजा है। जल गन्ध आदि द्रव्य से प्रतिमादि द्रव्य की पूजा करना द्रव्यपूजा है। जिन भगवान् के पंचकल्याणकों की भूमि में पूजा

करना क्षेत्रपूजा है और भक्तिपूर्वक जिन भगवान् के गुणों का कीर्तन करके, जो त्रिकाल वन्दना की जाती है वह भावपूजा है, नमस्कार मन्त्र का जाप और ध्यान भी भावपूजा है।

अमितगति ने अपने श्रावकाचार में पूर्वाचार्यों के अनुसार वचन और शरीर की क्रिया को रोकने का नाम द्रव्यपूजा और मन को रोककर जिनभक्ति में लगाने का नाम भावपूजा कहा है। उनके अपने मत से गन्ध, पुष्प नैवेद्य, दीप, धूप और अक्षत से पूजा करने का नाम द्रव्यपूजा और जिनेन्द्र के गुणों का चिन्तन करने का नाम भावपूजा कहा है।

सोमदेव ने पूजा के ये भेद नहीं बतलाये। ऊपर जिन दो प्रकार के पूजकों का उल्लेख किया है, उनके लिए सोमदेव ने पूजन की दो विभिन्न विधियों का वर्णन किया है। जो प्रतिमा में स्थापना नहीं करते उनके लिए अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र की स्थापना करके प्रत्येक की अष्ट द्रव्य से पूजा करना बतलाया है। उसके बाद क्रम से दर्शनभक्ति, ज्ञानभक्ति, चारित्रभक्ति, अर्हद्भक्ति, सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति, शान्तिभक्ति और आचार्यभक्ति करना बतलाया है। पूजा का यह प्रकार वर्तमान में प्रचलित नहीं है।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि सोमदेव ने पूजन से पूर्व जो स्थापन और सन्निधापन क्रियाएँ बतलायी हैं, वे आज के प्रचलित आवाहन, स्थापन और सन्निधीकरण से भिन्न हैं। आज तो प्रत्येक पूजन के प्रारम्भ में प्रत्येक पूज्य का आह्वान आदि किया जाता है। आइए—आइए, यहाँ विराजमान हूँजिए, मेरे निकट हूँजिए। किन्तु सोमदेव-द्वारा प्रदर्शित विधि में आह्वान तो है ही नहीं, और अभिषेक के लिए जो जिनबिम्ब को सिंहासन पर विराजमान किया जाता है वही स्थापना है। अभिषेक के पश्चात् ही जलादि पूजन प्रारम्भ हो जाता है, उसके प्रारम्भ में पुनः कोई आह्वान आदि नहीं किया जाता। इसी से सोमदेव की विधि में पूजन के अन्त में विसर्जन भी नहीं है, क्योंकि

विसर्जन का सम्बन्ध तो आह्वान आदि के साथ है। जब किसी को बुलाया जाता है, तो उसे बिदा भी किया जाता है। जब बुलाया ही नहीं जाता तो विदा करने का प्रश्न ही नहीं रहता।

आगे चलकर पूजा की प्रक्रिया में परिवर्तन आया। धर्मसंग्रह श्रावकाचार (वि० सं० १५१९ के लगभग) और लाटी संहिता (वि० सं० १६४१) में आह्वान, स्थापन, सान्निधीकरण, पूजन और विसर्जन ये पाँच प्रकार पूजा के बतलाये हैं। सम्भवतया आशाधर (वि० की तेरहवीं शताब्दी का अन्त) के पश्चात् ही उक्त प्रक्रिया ने पूजा में स्थान ग्रहण किया है, क्योंकि आशाधर के काल तक के साहित्य में ये पाँच प्रकार देखने में नहीं आते।

प्रश्न यह है कि यह आह्वान आदि की विधि जैनपरम्परा में कैसे प्रविष्ट हुई? सोमदेव सूरि ने स्थापन और सन्निधापन के पश्चात् तथा अभिषेक से पहले विघ्नों की शान्ति के लिये इन्द्र, अग्नि, यम आदि देवताओं से बलिग्रहण करके अपनी-अपनी दिशा में स्थित होने की प्रार्थना की है, किन्तु उन्हें बुलाकर भी उनका विसर्जन नहीं किया है। देवसेनकृत भावसंग्रह में इन्द्रादि देवताओं का आह्वान तथा उन्हें यज्ञ का भाग अर्पित करके पूजन के अन्त में उन आहूत देवों का विसर्जन भी किया है।<sup>२</sup> इस तरह जो आह्वान और विसर्जन इन्द्रादि देवताओं के निमित्त से किया जाता था, आगे उसे पूजा का आवश्यक अंग मानकर जिनेन्द्रदेव के लिए ही किया जाने लगा। आजकल पूजन के अन्त में विसर्जन करते हुए नीचे का यह श्लोक भी पढ़ा जाता है-

आहूता ये पुरा देवा लब्धभागा यथाक्रमम्।

ते मयाऽभ्यर्चिताः भक्त्या सर्वे यान्तु यथास्थितिम्॥

इसी को हिन्दी में इस प्रकार पढ़ा जाता है

आये जो जो देवगण पूजे भक्ति समान।

ते सब जावहु कृपा कर अपने अपने थान॥

मुक्तात्माओं के लिए यह कितना बेतुका और हास्यास्पद है। वास्तव में यह विसर्जन पूजन के प्रारम्भ में आहूत इन्द्रादि देवताओं के लिए है, जिनेन्द्रदेव के लिये नहीं है। संस्कृत के श्लोक में जो 'पुरा' 'यथाक्रमं लब्धभागाः' पद हैं वे इस कथन के समर्थक हैं। 'पुरा' का अर्थ है पहले अर्थात् पूजन आरम्भ करने से पूर्व। ऊपर लिखा जा चुका है कि उपासकाध्ययन में तथा भावसंग्रह में अभिषेक से पहले इन्द्रादि देवताओं को बुलाकर उन्हें बलि या यज्ञभाग देने का विधान है। यही

बात उक्त श्लोक के पूर्वाह्न द्वारा कही गयी है, "जिन देवों को पूजन के प्रारम्भ से पहले आहूत किया था और जिन्होंने क्रमानुसार अपना-अपना भाग पा लिया है, वे मेरे द्वारा पूजित होकर अपने-अपने स्थान को जायें।"

जिनेन्द्रदेव तो न कहीं जाते हैं और न पूजा का द्रव्य ग्रहण करते हैं। किन्तु वैदिक विधि के अनुसार इन्द्रादि देवताओं का आह्वान यज्ञ में किया जाता है और अग्नि देवताओं का मुख है, अतः उस-उस देवता के उद्देश्य से मन्त्रोच्चारणपूर्वक अग्नि में जो आहुति दी जाती है, वह उस-उस देवता को पहुँच जाती है, ऐसी वैदिक मान्यता है। उसी मान्यता का प्रभाव उत्तरकाल में जैनपूजाविधि में भी प्रविष्ट हो गया प्रतीत होता है। इन्द्र, वरुण आदि वैदिक देवता हैं। उन्हीं को प्रसन्न करके उनकी कृपाकामना के लिए वैदिक यज्ञ किये जाते थे। यज्ञ तो जैनों और बौद्धों के विरोध के कारण एक तरह से बन्द हो गये। उसके साथ ही वैदिक देवताओं का भी पुराना स्थान जाता रहा, फिर भी लौकिक मान्यता बनी रही। सम्भवतः उसी मान्यता ने जैनों की पूजाविधि को भी प्रभावित कर दिया। सोमदेवने तो केवल दिक्पालों ओर नवग्रहों का आह्वान मात्र करके उनसे बलिग्रहण करने की प्रार्थना की है, किन्तु आशाधर ने अपने प्रतिष्ठापाठ में नवग्रहों का वर्णन करके उन सब को पृथक्-पृथक् बलि प्रदान करने का विधान किया है।

### सन्दर्भ

१. सन्भावसन्भावा दुविह ठवणा जिणेहि पण्णत्ता।  
सायारवंतवत्थुम्मि जं गुणारोपणं पढमा ॥ ३८३ ॥  
अक्खय वराडओ वा अमुगो एसो त्ति णिययबुद्धीए।  
संकप्पिरुण वयणं एसा बिइया असन्भावा ॥ ३८४ ॥  
(वसुनन्दि-श्रावकाचार)
२. आवाहिरुण देवे सुरवइ सिहिकालणेरिए वरुणे।  
पवणे जखे ससूली सपिय सवाहणे ससत्थे य ॥ ४३९ ॥  
दाऊण पुज्जदव्वं बलिचरुयं तह य जण्णभायं च।  
सव्वेसिं मंतेहिं य वीयक्खरणामजुतेहि ॥ ४४० ॥  
झाणं झाऊण पुणो मज्झाणियवंदणत्थ काऊणं।  
उवसंहरिय विसज्जउ जे पुव्वावाहिया देवा ॥ ४८१ ॥  
(भावसंग्रह)

सोमदेवसूरि : उपासकाध्ययन / भारतीय ज्ञानपीठ /  
१९६४ ई० / प्रस्तावना / पृ० ५०-५३ से साभार

## पं० टोडरमल जी और शिथिलाचारी साधु

स्व० पं० मिलापचन्द्र जी कटारिया

मोक्षमार्ग में सम्यक्त्व और चारित्र का ही सर्वाधिक महत्त्व है। इसलिए गुणस्थानों का क्रम सम्यक्त्व और चारित्र की अपेक्षा से है, ज्ञान की अपेक्षा से नहीं है। ज्यों ज्यों चारित्र बढ़ता जावेगा, त्यों त्यों ही आत्मा ऊपर के गुणस्थानों में चढ़ता जावेगा। ऐसी बात ज्ञान की वृद्धि के साथ नहीं है, ज्ञान बढ़ता रहे तब भी गुणस्थान बढ़ता नहीं।

जिन देव-शास्त्र-गुरु की हम नित्य पूजा करते हैं, उनमें देव शास्त्र के साथ गुरु का नाम भी जुड़ा हुआ है। इससे प्रगट होता है कि गुरु यानी मुनि का पद भी कम महत्त्व का नहीं है। गुरु के लिये एक कवि ने यहाँ तक लिख दिया है कि 'वे गुरु चरण धरे जहाँ जग में तीरथ होइ।' ऐसे महान् पद के धारी मुनि भी केवल वेषमात्र से ही मुनि न होने चाहिए, किन्तु वेष के अनुसार उनमें मुनिपने का वह उज्ज्वल चारित्र भी होना चाहिये, जो मुनियों के आचारशास्त्रों में लिखा है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड-श्रावकाचार में गुरु का लक्षण इस प्रकार लिखा है-

विषयाशावशातीतो निरारंभोऽपरिग्रहः।

ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥

अर्थ- जो इन्द्रियों के विषयों की आशा से दूर रहता हुआ आरम्भ परिग्रह से रहित और ज्ञान-ध्यान-तप में तल्लीन रहता है, वही प्रशंसनीय मुनि कहलाता है।

इस महान् पद की सुरक्षा के लिए हमारे पूर्वाचार्यों ने मुनियों के शिथिलाचार पर बड़ी कड़ी दृष्टि रक्खी है। वेषमात्र को तो उन्होंने आदरणीय ही नहीं माना है। उन्होंने इस दिशा में सावधान रहने के लिए मुनिभक्तों को जो आदेश दिया है, उसके कुछ नमूने हम यहाँ लिख देना उचित समझते हैं-

सबसे पहिले इस विषय में हम महर्षि कुन्दकुन्द की वाणी उद्धृत करते हैं-

अस्संजद ण वंदे वत्थविहीणोवि सो ण वंदिज्जो।

दोण्णिणवि होंति समाणा एगोवि ण संजदो होदि ॥ २६ ॥

दंसणपाहुड

अर्थ- असंयमी कहिये जो कि महाव्रती नहीं है, गृहस्थ है उसकी वन्दना न करें। और जो वस्त्र त्याग कर नग्नलिंगी बन गया है, परन्तु सकल संयम का पालन नहीं करता है, वह भी वन्दना के योग्य नहीं है। दोनों ही यानी गृहस्थ और मुनिवेषी एक समान हैं। दोनों में

एक भी संयमी (महाव्रती) नहीं है।

उक्किट्टुसीह चरियं बहुपरियम्मो य गरुयभारो य।

जो विहरइ सच्छंदं पावं गच्छेदि होदि मिच्छत्तं ॥ ९ ॥

सुत्तपाहुड

अर्थ- जो स्वच्छन्द अर्थात् जिनसूत्र का उल्लंघन कर प्रवर्तता है, वह उत्कृष्ट सिंह-चारित्र का धारी, बहुपरिकर्मवाला और गच्छनायक ही क्यों न हो, तब भी वह पापी और मिथ्यादृष्टि ही है।

भावविसुद्धिणिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ।

बाहिरचाओ विहलो अब्भंतरंजुत्तस्स ॥ ३ ॥

भावपाहुड

अर्थ- भावों को निर्मल रखने के लिये बाहर में परिग्रहों का त्याग किया जाता है। त्याग करके भी, जो अभ्यंतर परिग्रह अर्थात् विषयकषायादि का धारी है, तो उसका बाह्यत्याग निष्फल है।

भावविमुत्तो मुत्तो णय मुत्तो बंधवाइमित्तेण।

इय भाविकुण उज्झसु गंथं अब्भंतरं धीरा ॥ ४३ ॥

देहादिचत्तसंगो माणकसाएण कलुसिओ धीर।

अत्तावणेण जादो बाहुबली कित्तियं कालं ॥ ४४ ॥

भावपाहुड

अर्थ- जो रागादिभावों का त्यागी है, वही त्यागी माना जाता है। केवल कुटुम्बादि के त्याग कर देने मात्र से कोई त्यागी नहीं कहलाता है। हे धीर! ऐसी भावना रखकर तू अभ्यन्तर परिग्रह जो रागादि भाव उनका त्याग कर। (४३)।

देहादि से ममत्व त्याग, परिग्रह छोड़कर कायोत्सर्ग में स्थित हुए बाहुबली मानकषाय से कलुषितचित्त हुए कितने ही काल तक (एक वर्ष तक) आतापन योग में रहे, तो उससे क्या हुआ? कुछ भी सिद्धि न हुई। भावेण होइ णगो बाहिरलिंगेण किं च णगेण। कम्मपयडीण णियरं णासइ भावेण दव्वेण ॥ ५४ ॥

भावपाहुड

अर्थ- भाव से भी नग्न होना चाहिए, केवल बाहरी नग्नवेष से ही क्या होता है? जो द्रव्यलिंग के साथ-साथ भावलिंग का धारी है, वही कर्मप्रकृतियों के समूह का नाश करता है।

बहुदोसाणावासो सुमलिणचित्तो ण सावयसमो सो ॥

भावपाहुड / १५३।

अर्थ- जो साधु मलिनचित्त हुआ मुनिचर्या में अनेक दोष लगाता है, वह श्रावक के समान भी नहीं हैं।

ध्रुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं।

णाऊण ध्रुवं कुञ्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि ॥ ६० ॥

मोक्खपाहुड

अर्थ- चार ज्ञान के धारी और जिनकी सिद्धि निश्चित है, ऐसे तीर्थङ्कर भी तपश्चरण करते हैं, ऐसा जानकर विद्वान् मुनि को भी निश्चय से तपस्या करनी चाहिए।

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि।

तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहि भावय ॥ ६२ ॥

मोक्खपाहुड

अर्थ- सुख की वासना में रहा ज्ञान दुख पड़ने पर नष्ट हो जाता है। इसलिये योगी को यथा शक्ति दुख सहने का अभ्यास करना चाहिये। अर्थात् परिषहों को सहना चाहिए।

णाणं चरित्तहीणं लिंगगहणं च दंसणविहूणं।

संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्व ॥ ५ ॥

सीलपाहुड

अर्थ- चारित्रहीन ज्ञान को, सम्यक्त्वरहित लिंगग्रहण को और संयमहीन तप को यदि कोई आचरता है, तो ये सब उसके निरर्थक हैं।

जो विसयलोलएहिं णाणीहिं हविज्ज साहिदो मोक्खो।  
तो सो सच्चइपुत्तो दसपुव्वीओ वि किं गदो णरयं ॥ ३० ॥

सीलपाहुड

अर्थ- यदि इन्द्रिय-विषयों के लोलुपी शास्त्रज्ञानियों ने ही मोक्ष साध लिया होता, तो दशपूर्वों का ज्ञाता होकर भी सात्यकिपुत्र-रुद्र नरक में क्यों जाता?

यह तो हुआ श्री कुन्दकुन्द स्वामी का उपदेश। इन्हीं सबका सारांश आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में एक ही पद्य में कह दिया है-

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।

अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥

अर्थ- गृहस्थ यदि निर्मोही है, तो वह मोक्षमार्ग का पथिक है। किन्तु मुनि होकर मोह रखता है, तो वह मोक्षमार्ग का पथिक नहीं है। मोही मुनि से निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ माना जाता है।

आचार्य गुणभद्र को तो वन को छोड़ रात्रि में बस्ती के समीप आ जाने मात्र मुनियों की इतनी सी शिथिलता भी सहन न हुई है। वे आत्मानुशासन में लिखते हैं-

इतस्तश्च त्रस्यंतो विभावार्या यथा मृगाः।

वनाद्विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः ॥ १९७ ॥

अर्थ- जिस प्रकार इधर उधर से भयभीत हुए गीदड़ रात्रि में वन को छोड़ गाँव के समीप आ जाते हैं, उसी प्रकार इस कलिकाल में मुनिजन भी वन को छोड़ रात्रि में गाँव के समीप रहने लगे हैं। यह खेद की बात है।

रानी रेवती की कथा में आचार्य महाराज ने श्राविका रेवती को तो आशीर्वाद कहला भेजा। परन्तु वहीं पर रहनेवाले ग्यारह अङ्ग के पाठी, किन्तु चारित्रभ्रष्ट भव्यसेन मुनि को आशीर्वाद कहला नहीं भेजा। मोक्षमार्ग में सम्यक्त्व और चारित्र का ही सर्वाधिक महत्त्व है। इसीलिए गुणस्थानों का क्रम सम्यक्त्व और चारित्र की अपेक्षा से है, ज्ञान की अपेक्षा से नहीं है। ज्यों-ज्यों चारित्र बढ़ता जायेगा, त्यों त्यों ही आत्मा ऊपर के गुणस्थानों में चढ़ता जावेगा। ऐसी बात ज्ञान की वृद्धि के साथ नहीं है। ज्ञान बढ़ता रहे तब भी गुणस्थान बढ़ता नहीं। अल्पश्रुत के धारी शिवभूति मुनि ने तुसमाष को घोषते हुए ही सिद्धि को प्राप्त कर लिया। यही बात मूलाचार में कही है-  
धीरो वइरग्गपरो थोवं हि य सिक्खिदूण सिज्झदि हु।  
णय सिज्झदि वेरग्गविहीणो पढिदूण सव्वसत्थाइं ॥ ३ ॥

मूलाचार / समयसाराधिकार

अर्थ- धीरवीर वैराग्यपरायण मुनि तो थोड़ा पढ़-लिखकर ही सिद्धि को पा लेता है, किन्तु वैराग्यहीन मुनि सब शास्त्रों को पढ़कर भी सिद्धि को नहीं पाता है।

इन सब उल्लेखों में मुनि के निर्मल चारित्र को प्रधानता दी है। अर्थात् किसी मुनि में अन्य सभी गुण हों और चारित्र की उज्वलता न हो, तो सब निरर्थक है। (अपूर्ण)

'जैन निबन्धरत्नावली' (भाग २) से साभार



## पंचकारणसमवाय आगमोक्त नहीं-२

प्रो० रतनचन्द्र जैन

जिनभाषित के नवम्बर २००९ के अंक में यह स्पष्ट किया गया था कि पंडित बनारसीदासकृत नाटक समयसार का 'पद सुभाऊ पूरब उदै' इत्यादि दोहा पंचकारणसमवाय का प्रतिपादक नहीं है। यहाँ इस मत के समर्थन में दिये जानेवाले अन्य प्रमाणों पर विचार किया जा रहा है।

### गोम्मटसार का कथन

एक प्रमाण यह दिया जाता है कि गोम्मटसार कर्मकाण्ड में कारणविषयक पाँच एकान्तवादों का उल्लेख किया गया है। उसका आशय यह है कि जो इनमें से किसी एक से कार्य की उत्पत्ति मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है और जो कार्य की उत्पत्ति में इन पाँचों के समवाय को स्वीकार करता है वह सम्यग्दृष्टि है।

इसके विरोध में पहली बात तो यह है कि गोम्मटसार कर्मकाण्ड में कारणविषयक पाँच एकान्तवादों का नहीं, सात का वर्णन है- काल, ईश्वर (पूर्वकृत कर्म), नियति, स्वभाव, पौरुष, दैव और संयोग। इनमें से दो को छोड़कर केवल पाँच के समवाय से प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति मानने वाला सम्यग्दृष्टि है यह आशय किस आधार पर निकाला गया, इसका कोई समाधान नहीं है। गोम्मटसार के कर्ता ने प्रत्येक मत को कथंचित् स्वीकार करना सम्यक् बतलाया है और मतों की कोई सीमा निर्धारित नहीं की है। इसलिए सातों कारणों के समवाय से अथवा जितने भी कारण संभव हैं उन सबके समवाय से प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति माननेवाले को सम्यग्दृष्टि माना जाना चाहिए, न कि केवल पाँच कारणों के समवाय से मानने वाले को।

### प्रत्येक किसी न किसी कार्य का कारण

किन्तु गोम्मटसार के कथन का यह आशय ही निकालना असंगत है कि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति पाँच या सात या और अधिक कारणों के समवाय से होती है। आइये हम देखें कि आचार्य नेमिचन्द्रजी ने गोम्मटसार में जो कहा है उसका आशय क्या है? आचार्यश्री ने यह कहा है कि "कुछ लोग मानते हैं कि काल ही सब कुछ करता है, कुछ लोग कहते हैं कि ईश्वर ही सब कुछ करता है, कुछ का मत है कि नियति ही सब करती है, किन्हीं का मान्यता है कि स्वभाव ही सब कार्यों का कारण है, कुछ मानते हैं कि पौरुष से ही सब कुछ होता है, कुछ लोगों की धारणा है कि

देव ही सब कार्यों का कर्ता है, और कुछ मानते हैं कि संयोग से ही सब कार्य होते हैं। किन्तु जैन किसी भी मत को सर्वथा नहीं मानते, अपितु कथंचित् (अंशतः) मानते हैं, इसलिए उनकी मान्यता सम्यक् होती है और दूसरों की मिथ्या।" (गोम्मटसार-कर्मकाण्ड गाथा ८७९-८९५)।

इसका आशय तो यह है कि जैनमत इनमें से किसी को भी सभी कार्यों का कारण नहीं मानता, अपितु प्रत्येक को किसी न किसी कार्य का कारण मानता है। आचार्यश्री का कथन यही तो है कि काल आदि सभी को कथंचित् कारण माना जाये। सबको कथंचित् कारण मानने का तात्पर्य यह कैसे हो सकता है कि सबको प्रत्येक कार्य का कारण माना जाय? एकान्तवादियों की मान्यता यह नहीं है कि अन्य कारणतत्त्व प्रत्येक कार्य के कारण न होकर कुछ ही कार्यों के कारण हैं। मान्यता यह है कि वे किसी भी कार्य के कारण नहीं हैं। अतः समाधान यह होना है कि काल आदि सभी में कारणत्व है या नहीं अर्थात् वे किसी कार्य के कारण हैं या नहीं? बस इसी का समाधान आचार्यश्री ने 'कथंचित्' शब्द से किया है, जिसका तात्पर्य यह है कि सभी में किसी न किसी कार्य की अपेक्षा कारणतत्त्व है। अतः कालादि सभी कथंचित् कारण हैं, इसका यह अभिप्राय कहाँ फलित होता है कि वे प्रत्येक कार्य के कारण हैं, इसलिए किसी एक कारण से कार्य की उत्पत्ति मानने वाला मिथ्यादृष्टि है और पाँच के समवाय से मानने वाला सम्यग्दृष्टि है? फिर, आचार्यश्री ने स्वयं सात कारणों का वर्णन किया है। उनमें से वे केवल पाँच कारणों के समवाय से कार्योंत्पत्ति मानने को किस आधार पर समीचीन बतला सकते हैं? क्या दो को तथा अन्य संभावितों को सर्वथा अस्वीकार कर देने से वे स्वयं मिथ्यादृष्टि नहीं बन जाते?

दूसरी बात यह है कि सभी कारणों या पाँच कारणों से प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति मानना तर्कसंगत भी नहीं

है। इसके निम्नलिखित कारण हैं-

१. पहला तो यह कि एक अकेली नियति को प्रत्येक कार्य का कारण मान लेने से अन्य सभी कारण निरर्थक हो जाते हैं, क्योंकि नियति में सभी कारण गर्भित होते हैं। सम्पूर्ण कारण सामग्री के नियत होने का नाम ही तो नियति है। यह गोम्मटसार में वर्णित नियतिवाद के निम्नलिखित लक्षण से स्पष्ट हो जाता है-

जन्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।  
तेण तहा तस्स हवे इति वादो णियदिवादो दु॥

अर्थात् जिसका जो, जब, जिसके द्वारा, जिस विधि से नियमानुसार होना है, उसका वह, उस समय, उसके द्वारा, उस विधि से होता है। इस प्रकार सब कुछ नियत मानना नियतिवाद है।

यहाँ नियति में 'जब' शब्द से काल की, 'जिसके द्वारा' तथा 'जिस विधि से' (यथा) शब्दों द्वारा निमित्त, पुरुषार्थ आदि सम्पूर्ण कारण सामग्री की नियतता दर्शायी गई है। इस प्रकार एक मात्र नियति को प्रत्येक कार्य का कारण मान लेने से अलग से किसी भी अन्य कारण को मानने की आवश्यकता नहीं रहती।

२. दूसरे, काल, स्वभाव, पूर्वकृत कर्म (ईश्वर) आदि में से अनेक विरुद्धस्वभावी हैं, अतः वे सबके सब प्रत्येक कार्य के कारण हो भी नहीं सकते। उदाहरणार्थ, आत्मा के दर्शनोपयोग, ज्ञानोपयोग आदि स्वभावजन्य कार्यों में पूर्वकृत कर्म एवं पुरुषार्थ कारण नहीं हो सकते, इसी प्रकार मोहरागादि कर्मजनित कार्यों में स्वभाव एवं पुरुषार्थ आदि का कारण होना संभव नहीं है।

३. कार्यों में भी विभिन्नता है। इस कारण प्रत्येक कार्य में सभी कारण आवश्यक भी नहीं हैं। आत्मा के स्वाभाविक परिणामन के लिए कर्मरूप कारण की आवश्यकता नहीं है। जन्म और मरण, संयोग और वियोग आदि के लिए पौरुष अनावश्यक है, वे कर्म द्वारा नियत हैं। संसार और मोक्ष नियति पर निर्भर नहीं हैं, पुरुषार्थ के अधीन हैं। रागद्वेषादि स्वभावजन्य नहीं हैं, कर्मनिमित्तक हैं।

अतः गोम्मटसार में वर्णित सभी कारणों को प्रत्येक कार्य का हेतु स्वीकार नहीं किया जा सकता, अलग-अलग कार्यों का ही हेतु स्वीकार किया जा सकता है। इसकी पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि गोम्मटसार में वर्णित एकान्तवादियों ने अपने मत के समर्थन में जिन कार्यों के दृष्टान्त दिये हैं वे परस्पर अत्यन्त भिन्न

हैं। स्वभाव से कार्य होने में कंटक आदि की तीक्ष्णता तथा पशु-पक्षियों की विविधता का दृष्टान्त दिया गया है। संयोग से कार्य होने में दो चक्कों के संयोग से ही रथ चल पाने तथा परस्पर सहयोग से अन्धे और लँगड़े के नगर में प्रविष्ट होने का दृष्टान्त है। पुरुषार्थ के अन्तर्गत बिना प्रयत्न के स्तनपान जैसे सुकर कार्य न कर पाने का दृष्टान्त है। ईश्वरवाद या कर्मवाद की सिद्धि सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक-गमन आदि कार्यों के दृष्टान्त द्वारा की गई है। दैववाद का औचित्य उठराने के लिए राजा कर्ण के अत्यन्त पराक्रमी होते हुए भी युद्ध में मारे जाने का दृष्टान्त दिया गया है। हम देखते हैं कि इन भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यों की अपेक्षा ही इन सभी कारणों की कारणात्मकता घटित होती है। कोई भी कारण किसी दूसरे प्रकार का कार्य करने में समर्थ नहीं है। उदाहरणार्थ, कंटक आदि में विद्यमान तीक्ष्णता तथा पशु-पक्षियों की विविधता स्वभाव नामक कारण से ही संभव है, संयोग अथवा पुरुषार्थ से कदापि संभव नहीं है। अन्धे और लँगड़े के परस्पर सहयोग द्वारा गन्तव्य तक पहुँचने में स्वभाव का कोई योगदान नहीं है। इसी प्रकार सुख-दुःख भोग तथा स्वर्ग-नरक-गमन स्वभावजन्य नहीं हैं, कर्मकृत ही हैं। यदि कंटकादि की तीक्ष्णता को स्वभाव से भी उत्पन्न माना जाये और संयोग, पुरुषार्थ आदि से भी तो यह युक्ति और आगम के विरुद्ध होगा। अतः स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न कार्यों की अपेक्षा ही उपर्युक्त कारणों की कारणात्मकता सत्य सिद्ध होती है। इसके पीछे तथ्य यह है कि कालादि कारण परस्पर भिन्नस्वभावी एवं विरुद्धस्वभावी हैं, अतः सभी कार्यों की अपेक्षा उनकी कारणात्मकता घटित नहीं हो सकती। जैसे द्रव्य की अपेक्षा वस्तु का नित्यत्व घटित होता है और पर्याय की अपेक्षा अनित्यत्व, वैसे ही भिन्न-भिन्न कार्यों की अपेक्षा भिन्न-भिन्न कारणों की कारणात्मकता घटित होती है। कारण-विषयक एकान्तवादों की एकान्तात्मकता का हेतु यही तो है कि उनमें से प्रत्येक कुछ ही कार्यों का कारण है, किन्तु उसे सभी कार्यों का कारण मान लिया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गोम्मटसार में आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने कारणविषयक एकान्तवादों के विषय में जो कहा है, उसका आशय यह कदापि नहीं है कि जो किसी एक कारण से कार्य की उत्पत्ति मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है और जो पाँच कारणों के

समवाय से कार्य की उत्पत्ति मानता है, वह सम्यग्दृष्टि है, अपितु आशय यह है कि किसी भी कारण से सभी कार्यों की उत्पत्ति माननेवाला मिथ्यादृष्टि है और प्रत्येक कारण को किसी न किसी कार्य का उत्पादक माननेवाला सम्यग्दृष्टि है।

इस तथ्य की पुष्टि 'सूत्रकृतांग' (श्वेताम्बरग्रन्थ) एवं उसकी टीका के निम्नलिखित वचनों से होती है-

एवमेयाणि जंपंता बाला पंडिअमाणिणो।

निययानिययं संतं अयाणंता अबुद्धिया॥

(सूत्रकृतांग १/२/४)

अर्थात् सुख-दुःखादि सब नियतिकृत हैं ऐसा कहनेवाले बुद्धिहीन हैं, क्योंकि सुख-दुःखादि नियतिकृत भी हैं और अनियतिकृत भी

इसे स्पष्ट करते हुए टीकाकार कहते हैं-

'आर्हतानां किञ्चित्सुखदुःखादि नियतित एव भवति तत्कारणस्य कर्मणः कस्मिंश्चिदवसरेऽवश्यम्भाव्युदय सद्भावान्नियतिकृतमित्युच्यते तथा किञ्चिद-नियतिकृतं च, पुरुषकार-कालेश्वरस्वभावकर्मादिकृतम्।'

भाव यह है कि जैनों के मतानुसार कुछ सुख-दुःखादि कार्य नियति से ही होते हैं, क्योंकि सुख-दुःखादि के कारणभूत कर्म का किसी काल में उदय अवश्यभावी होने से वे नियतिकृत कहलाते हैं तथा कुछ अनियति से अर्थात् पौरुष, काल, ईश्वर, स्वभाव, कर्म आदि से उत्पन्न होते हैं।

यहाँ 'किञ्चित् सुख-दुःखादि' (कुछ सुख-दुःखादि कार्य) शब्दों से स्पष्ट है कि नियति, काल, ईश्वर आदि प्रत्यय विशेष-विशेष कार्यों के कारण है, सभी के नहीं। यह बात उक्त गाथा के टीकाकार द्वारा किये गये निम्नलिखित विवेचन से भी प्रकट होती है-

"सुख-दुःखादि कथंचित् पौरुष द्वारा भी साध्य हैं, क्योंकि क्रिया से ही फल प्राप्त होता है और क्रिया पौरुष के अधीन है। कहा भी गया है- 'भाग्य से ही सब कुछ होता है ऐसा सोचकर मनुष्य को अपना उद्यम नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि तिल में तेल होने पर भी उद्यम के बिना वह किसे प्राप्त हो सकता है? पौरुष की भिन्नता होने पर फल में भी भिन्नता हो जाती है तथा समान पौरुष करने पर भी जो किसी को फल प्राप्त होता है, किसी को नहीं इसमें अदृष्ट (दैव) कारण होता है, उसे भी हमने कारण के रूप में स्वीकार किया ही है। इसी प्रकार काल भी कर्ता है, क्योंकि बकुल, चम्पक, पुन्नाग, नागकेसर, आम्र आदि में विशेष काल (ऋतु)

में ही पुष्पफलादि का उद्गम होता है। जो यह कहा जाता है कि काल एक रूप है, अतः उसे जगत् के कार्यों का कारण मानने पर उनमें विभिन्नता दृष्टिगोचर नहीं हो सकती, यह दोष हमारे मत में नहीं आता, क्योंकि हम केवल काल को ही कारण नहीं मानते, अपितु कर्म को भी मानते हैं, उसी से जगत् के कार्यों में विभिन्नता है। इसी तरह ईश्वर भी कर्ता है। आत्मा ही विभिन्न योनियों में उत्पन्न होकर समस्त जगत् में व्याप्त हो जाने से ईश्वर है। सुख-दुःखोत्पत्ति में उसका कारण होना सभी वादियों को स्वीकार है। स्वभाव भी कथंचित् कर्ता है ही। उदाहरणार्थ, आत्मा का उपयोग-स्वभाव तथा असंख्येयप्रदेशत्व, पुद्गल का मूर्तत्व, धर्म-अधर्म द्रव्यों की गतिस्थिति-हेतुता तथा अमूर्तत्व आदि स्वभावजन्य हैं तथा कर्म भी कारण हैं, क्योंकि वे जीव के प्रदेशों के साथ परस्परवागाहरूप से स्थित होने के कारण कथंचित् आत्मा से अभिन्न हैं और उनके वशीभूत होकर आत्मा नारक, तिर्यक्, मनुष्य एवं देव योनियों में भ्रमण करता हुआ सुख-दुःखादि भोगता है। इस प्रकार नियति और अनियति का कर्तृत्व (कारणत्व) युक्ति द्वारा सिद्ध हो जाने पर नियति को ही एकमात्र कर्ता माननेवाले बुद्धिहीन ठहरते हैं।"

यहाँ १. नियति, २. पौरुष, ३. काल, ४. ईश्वर, ५. स्वभाव, ६. अदृष्ट और ७. कर्म की कारणात्मकता भिन्न-भिन्न कार्यों के द्वारा सिद्ध की गई है। कोई एक कार्य सभी की कारणात्मकता सिद्ध करने के लिए उदाहरण रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया, क्योंकि ऐसा कोई कार्य हो ही नहीं सकता। जगत् में जो विभिन्नता है उसके लिए कर्म को ही कारण बतलाया गया है, काल आदि को नहीं। जीवादि द्रव्यों के जो स्वभाव हैं वे स्वभावजन्य ही प्रतिपादित किये गये हैं, नियति, काल, ईश्वर आदि की उनमें कोई हेतुता नहीं दर्शाई गई। जीव के नरक, तिर्यक् आदि योनियों में भ्रमण के लिए कर्म को उत्तरदायी ठहराया गया है, स्वभाव आदि को नहीं। इससे सिद्ध है कि नियति, काल आदि कारण भिन्न-भिन्न कार्यों के हेतु हैं, प्रत्येक के नहीं। अतः प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में पाँच या सभी कारणों की अनिवार्यता आगम को मान्य नहीं है। यहाँ (सूत्रकृतांग में) भी पाँच कारण नहीं, अपितु सात बतलाये गये हैं अतः पंचकारणसमवाय का आगमोक्त होना सिद्ध नहीं होता। (अपूर्ण)

ए / २, शाहपुरा, भोपाल-४६२ ०३९

# चातुर्मास : स्वरूप और परम्पराएँ

श्री कलानाथ शास्त्री

राजस्थान में ही नहीं समूचे देश में विशेषकर उत्तर भारत में वर्षा ऋतु के चार महीने विभिन्न धार्मिक परम्पराओं के केन्द्र बन गये हैं। यही वह समय होता है, जब सभी धर्मों के तपस्वी साधु-संन्यासी अपनी निरन्तर यात्राओं से विरत होकर एक ही स्थान पर चार मास तक रहते हैं और वहाँ के श्रद्धालुओं को धर्मोपदेश करते हैं। इसे चातुर्मास्य करना या चौमासा करना कहते हैं। इन चार मासों में इसी कारण अनेक धार्मिक रीति-रिवाज, आचार परम्पराएँ और उत्सव समाहित हो गये हैं। इसका एक कारण तो प्राचीन भारत की इस सामाजिक स्थिति में तलाशा जा सकता है कि वर्षा से रास्ते रुक जाने और यात्राओं के प्रचुर और सशक्त साधन उपलब्ध न होने के कारण इन चार मासों में यात्राएँ नहीं की जाती थीं। यायावर साधु-संन्यासी एक जगह स्थिर हो जाते थे। तीर्थयात्राएँ बन्द हो जाती थीं तथा दूर जाकर गुरुओं से पढ़ने की स्थिति भी नहीं बनती थी।

इस परम्परा में वेदकाल का वह वर्षाकालीन स्वाध्याय भी आता है, जिसे आज भी श्रावणी या उपाकर्म कहा जाता है। उस समय श्रावणी पूर्णिमा से वेद के पुनरनुशीलन का क्रम चलता था। इसी के साथ भाद्रपद मास में वेदकालीन ऋषि अपने तपोवनों में अपने शिष्यों के साथ अनेक प्रकार की तैयारियाँ करते थे, जिनमें वर्षभर के यज्ञ कार्यों के लिए दर्भ तोड़कर लाना भी शामिल था, क्योंकि वर्षाकाल में कुशों और वनस्पतियों की सहज वृद्धि होती थी। रस्म के रूप में आज भी भाद्रपद की अमावस्या को यह कार्य किया जाता है जिसे कुशग्रहणी अमावस्या कहा जाता है। इस प्रकार वैदिक काल से ही चातुर्मास्य शताब्दियों तक यज्ञ और स्वाध्याय की परम्पराओं से जुड़ा रहा। आज भी उस परम्परा में शंकराचार्य आदि संन्यासी धर्मगुरु इन दिनों एक स्थान पर ही निवास करते हैं और धर्मोपदेश करते हैं। ये चौमासा कब शुरू होता है, इस बारे में दो परम्पराएँ हैं। एक परम्परा आषाढ़ शुक्ल द्वादशी से कार्तिक शुक्ल द्वादशी तक चातुर्मास्य मनाती है। दूसरी परम्परा आषाढ़ मास की संक्रान्ति से (वह कभी भी हो) कार्तिक मास

की सूर्य संक्रान्ति तक चातुर्मास्य मनाती है।

भारत की श्रमणसंस्कृति भी बहुत प्राचीन है। इसमें भी वर्ष के चार माहों में साधुओं और मुनियों का एक स्थान पर रह कर धर्मोपदेश करना बहुत प्राचीन परम्परा है। उसी परम्परा में आज भी भाद्रपद माह में, जो चातुर्मास का मध्य है, जैन धर्मावलम्बी पर्युषण पर्व मनाते हैं। दिगम्बर आमनाय में इसे दशलक्षण पर्व कहा जाता है। ये वर्ष भर के महत्त्वपूर्ण धार्मिक कृत्य हैं। दिगम्बर जैनों में इसकी पूर्ति के बाद क्षमापनपर्व भी मनाया जाता है। वर्षाकालीन इन मासों में धर्माचरण पर विशेष बल देने की परम्परा उपर्युक्त चातुर्मास की परम्परा का ही अंग प्रतीत होती है। महावीर ने गौतम गणधर को प्रथम धर्मदेशना (उपदेश) श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को दी थी। जिस प्रकार वर्षा के बादल जल बरसा कर हलके और शुभ्र हो जाते हैं, उसी प्रकार कषायों (कलुष) और विषयों (वासना) का त्याग कर धर्मार्थी इन दिनों निर्मल होने का प्रयत्न करता है।

वैष्णव परम्परा के लिये भी श्रावण और भाद्रपद माहों का धार्मिक महत्त्व है। आज भी वैष्णव मन्दिरों में सावन के झूले और झाँकियाँ तो भक्तिकालीन परम्परा के रूप में चले आ रहे हैं, किन्तु इससे पूर्व भी जब विष्णु की उपासना को व्यापकता दी जाने लगी थी, सनातन धार्मिक वैष्णव आचारों के प्रमुख कृत्य श्रावण और भाद्रपद माह में किये जाते थे। श्रावण से प्रारम्भ होकर ऐसे उत्सव दीपावली के बाद तक चलते थे। चाहे आज इस अवधि को 'देव सोने की' (देवताओं के सोते रहने की) अवधि बता कर मांगलिक कार्यों के मुहूर्त निकालने पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता हो, किन्तु धार्मिक कार्यों का इसमें कोई प्रतिबन्ध नहीं है, बल्कि उनकी विपुलता ही है। गणेशचतुर्थी और जन्माष्टमी के अलावा भाद्रपद शुक्ल पंचमी को ऋषि पंचमी के रूप में इसी माह में मनाया जाता है, जिसमें वैदिक ऋषियों का स्मरण किया जाता है।

इसी परम्परा का अभिन्न अंग है अनन्त चतुर्दशी जो वैष्णव सम्प्रदाय का महत्त्वपूर्ण पर्व है। यह पर्व मूलतः

इस धारणा के साथ शुरू हुआ होगा कि विष्णु ही महाविभूति (विश्व का पालन करनेवाली सर्वव्यापक शक्ति) अनन्त हैं, अन्तर्यामी हैं और व्यापक हैं। वे नित्य विभूति हैं, राम, कृष्ण आदि उन्हीं की लीला हैं, विभूति हैं। आचार की मर्यादा को नियन्त्रित करनेवाले प्राचीन वैष्णव सम्प्रदाय में (जो वासुदेव सम्प्रदाय से अलग था) विष्णु के इस अनन्त रूप को समस्त वैष्णवों के लिए वन्दनीय माना गया। वैष्णवों की यह धारणा है कि इन चार माहों में विष्णु क्षीरसागर में शेषनाग की शैया पर शयन करते हैं और भाद्रपद शुक्ल द्वादशी को करवट लेते हैं, जिस दिन विष्णु परिवर्तनोत्सव मनाया जाता है। सहस्रशीर्षा विष्णु की तरह सहस्रफण होने के कारण शेषनाग को भी अनन्त कहा जाने लगा था। अनन्त शयन (शेषशायी) भगवान् विष्णु इस अवधि में एक जगह ही रहते हैं और आराम करते हुए भी भक्तों को संसारबंधन से मुक्त करते रहते हैं। इसी परम्परा में भाद्रपद शुक्ल चतुर्दशी को अनन्तविष्णु की पूजा करके वैष्णव लोग कच्चे सूत का चौदह गाँठोंवाला रंगा हुआ एक डोरा अपने बाजू पर बाँधते हैं, जो व्यापक वैष्णव परम्परा के अनुयायी होने का प्रतीक है। यह बंधन संसार के बंधनों से मुक्ति दिलाता है। वैष्णवपरम्परा का यह उत्सव वर्षाकालीन चातुर्मास्य का प्रमुख व्रत है।

वैष्णव सम्प्रदायों में भक्तिकालीन धाराओं के आने के साथ, जब विष्णु के गोपाल और वृन्दावन-बिहारी रूप की माधुर्य लक्षणा भक्ति प्रचलित हुई, तो व्यापक और अनन्त विष्णु की मर्यादापरक पूजा उतनी सुप्रचलित नहीं रही, जितनी मध्य काल में थी, तथापि उसके प्रतीक के रूप में आज भी वैष्णवों में अनन्त का व्रत करने और डोरा बाँधने की यह परम्परा चली आ रही है।

जैसा पहले बताया जा चुका है जैन आम्नायों में भाद्रपद मास के इन पर्वों का सर्वाधिक महत्त्व है। जैनधर्म में शारीरिक वृत्तियों का अधिकाधिक संयम, आचार का कट्टर अनुशासन और सांसारिक बन्धनों से पूर्ण विरक्ति आदि को प्रमुखता दी गयी है, इसी का अंग है उपवास (कषाय, विषय और आहार का त्याग), जिसका सिद्धांत है शरीर का मोह त्याग कर उसकी वृत्तियों को नियंत्रित करना। उपवास तथा अन्न-जल के त्याग की यह धारणा जैन आचार का महत्त्वपूर्ण अंग है। अन्न-जल त्यागी

साधुओं और श्रावकों को सर्वाधिक श्रद्धा का पात्र इसी दृष्टि से माना जाता है। कुछ विद्वानों का तो यह मानना है कि उपवास की अवधारणा जो सनातनी परम्पराओं में भी व्याप्त हो गयी है, श्रमण संस्कृति का प्रभाव है अन्यथा वैदिक संस्कृति में व्रत तो था, उपवास नहीं। जो भी हो, उपवास से सम्बन्धित आचारों का प्रमुख केन्द्र भाद्रपद मास ही जैनधर्म के दोनों आम्नायों (श्वेताम्बर और दिगम्बर) में माना जाता है। इस मास में अधिक से अधिक आत्मसंयम का तथा उपवास रख धार्मिक आचारों का पालन और उपदेशों का श्रवण जैन धर्मावलम्बियों के प्रमुख धार्मिक कृत्य हैं। दिगम्बर आम्नाय में इसे दशलक्षण पर्व कह कर भाद्रपद शुक्ल पंचमी से चतुर्दशी तक मनाया जाता है। इन दस दिनों में धर्म के दस प्रकारों या तत्त्वों (उत्तम अर्थात् अध्यात्मोन्मुख क्षमा अर्थात् सहनशीलता, उत्तम मार्दव अर्थात् नम्रता, उत्तम आर्जव अर्थात् सरलता व सहजता, उत्तम सत्य अर्थात् सच्चाई, उत्तम शौच अर्थात् निःस्पृहता, संयम अर्थात् अनुशासन, तप, त्याग, आकिंचन्य अर्थात् अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य का पालन और उपदेश श्रवण किया जाता है। इसके अनन्तर आश्विन कृष्ण प्रतिपदा को क्षमापन पर्व मनाया जाता है, जब समाज के प्रत्येक व्यक्ति से मतभेद भुला कर किसी भी प्रतिकूल वचन या कार्य के लिये सबसे क्षमा माँगी जाती है।

श्वेताम्बर आम्नाय में इन उपवासों और आचारों को पर्युषण कहा जाता है, जिसका शब्दार्थ है उपासना। वे भाद्रपद कृष्णा एकादशी से शुक्ल चतुर्थी तक ये पर्व मनाते हैं, जिसमें अर्हन्तों, सिद्धों, आचार्यों, उपाध्यायों और सर्व साधुओं का पूजन, नमन तथा सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य के सिद्धान्तों का चिन्तन व पालन किया जाता है। इसके अनन्तर शुक्ल पंचमी को (जिसे सनातनी ऋषि पंचमी के रूप में मनाते हैं) संवत्सरी के रूप में मनाया जाता है, जो पर्युषण पर्व की सम्पन्नता (सफल समाप्ति) का प्रतीक है। एक तरह से इस दिन श्रावक का आध्यात्मिक पुनर्जन्म या नया वर्ष शुरू हो जाता है। इस प्रकार जैनों के दोनों आम्नायों में भाद्रपद मास के इन धार्मिक पर्वों को वर्ष का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आचारपर्व माना गया है।

राजस्थान में जैनधर्म का विपुल प्रचार होने के

कारण इन पर्वों की गूँज भाद्रपद मास के दूसरे पखवाड़े भर बराबर सुनाई देती रहती है। इसी प्रकार ब्रज की कृष्णभक्ति-परम्परा का पूरा प्रभाव होने के कारण श्रावण मास की ब्रज-परिक्रमाओं झाँकियों और भाद्रपद मास के व्रतों की परम्परा भी यहाँ वर्षों से चली आ रही है। यद्यपि वैदिक संस्कृति के स्वाध्यायों की परम्परा विलुप्त सी हो गई प्रतीत होती है, किन्तु वैष्णवसम्प्रदाय की अनन्तचतुर्दशी आज भी इस बात का प्रतीक है कि ब्रह्मा,

विष्णु और महेश की त्रिमूर्ति के समन्वय को सनातन भारतीय परम्परा का परिचायक माननेवाला धार्मिक सनातनी वैष्णव, शेषशायी पृथ्वीपालक विष्णु को आज भी अपनी चेतना में अविभाज्य रूप से व्याप्त मानता हुआ उस अन्तर्यामी अनन्त की पूजा करता है, जो ब्रह्माण्ड के विराट् स्वरूप का प्रतीक है।

‘भारतीय संस्कृति’ (आधार और परिवेश)  
से साभार

### श्री सुरेश जैन, आई. ए. एस. भोपाल को श्रुत-संबर्द्धन पुरस्कार एवं समाजरत्न की उपाधि

परमपूज्य सराकोद्धारक उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज की प्रेरणा से स्थापित श्रुत संबर्द्धन संस्थान द्वारा श्री सुरेश जैन, आई.ए.एस., भोपाल का चयन विधि, पर्यावरण, एवं व्यक्तित्व विकास के क्षेत्रों में लेखन के माध्यम से दिए गए उत्कृष्ट योगदान के लिए वर्ष २००८ के श्रुत संबर्द्धन पुरस्कार हेतु किया गया। श्रवणबेलगोल के आत्मीयता से ओतप्रोत पवित्र आध्यात्मिक परिवेश में श्री जैन को परमपूज्य ज्ञानसागर जी महाराज, स्वस्ति श्री चारुकीर्ति भट्टारक जी एवं स्वस्ति श्री धर्मकीर्ति भट्टारक जी के सान्निध्य में रुपये ५१,००० की सम्मान राशि, शाल, श्रीफल, स्मृति चिन्ह, चाँदी की आरती एवं लायची की विशाल तथा सुन्दर माला से करतल ध्वनि के साथ सम्मानित किया गया। स्वास्ति श्री भट्टारक जी द्वारा उन्हें समाजरत्न से अलंकृत करते हुए प्रशस्ति पत्र प्रदान किया गया। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती विमला जैन, जिला एवं सत्र न्यायाधीश का शाल, श्रीफल एवं माल्यार्पण कर अभिनन्दन किया गया।

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी के अध्यक्ष श्री आर.के. जैन ने अपने उद्बोधन में श्री सुरेश जैन की सर्वोच्च उपलब्धियों की सराहना करते हुए उल्लेख किया कि उन्होंने मध्यप्रदेश सरकार के वरिष्ठ पदों पर रहते हुए जैनसंस्कृति के संरक्षण में अमूल्य योगदान किया है। उन्होंने नैनागिरि क्षेत्र का चतुर्मुखी विकास कर अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया है। पूज्य उपाध्याय जी और स्वामी जी ने अपने प्रभावी शाब्दिक कवच एवं कुण्डल भेंट करते हुए उन्हें पूरी प्रसन्नता के साथ आशीर्वाद प्रदान किया। कर्नाटक जैनसमाज के अध्यक्ष इंजीनियर एस. जिनेन्द्र कुमार जैन, न्यायमूर्ति श्री अभय गोहिल, श्री नीरज जैन सतना एवं दक्षिण भारत जैन महामण्डल के पदाधिकारियों द्वारा श्री जैन के सामाजिक कार्यों की सराहना करते हुए उन्हें मंगलकामनाएँ प्रदान की गईं।

बैंगलोर में पूज्य प्रमुखसागर जी के सान्निध्य में बैंगलोर चातुर्मास समिति के अध्यक्ष श्री डी० सुरेन्द्र कुमार हेगड़े, उनकी धर्मपत्नी श्रीमती अनीता हेगड़े एवं श्री विमुक्त शोभा जैन, द्वारा जैन दंपति को बहुमान प्रदान किया गया।

बैंगलोर के सुप्रसिद्ध उद्योगपति श्री बाहुबली तुकोल ने श्री जैन के ६५ वे जन्म दिन पर बधाई देते हुए बताया कि उनके पिता न्यायमूर्ति टी.के. तुकोल द्वारा अँग्रेजी में कम्पेन्डियम ऑफ जैनियम लिखी गई है। श्री तुकोल ने श्री जैन से आग्रह किया कि, वे इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद करें जिससे कि हिन्दी क्षेत्रों के पाठक इस पुस्तक का लाभ ले सकें।

इस अवसर पर श्री हंसकुमार जैन, मेरठ ने घोषणा की कि श्रुत-संबर्द्धन-संस्थान द्वारा श्री सुरेश जैन द्वारा लिखित ‘बड़े भाई की पाती’ एवं ‘अल्पसंख्यक विधि संहिता’ शीघ्र ही पुनः प्रकाशित की जावेंगी।

पूज्य स्वामी जी की ओर से श्री सुरेश जैन को समर्पित अभिनन्दन पत्र का वाचन पण्डित ऋषभदास जी शास्त्री ने किया एवं श्री एच.पी. अशोक कुमार जी एवं उनकी धर्मपत्नी श्रीमती ब्राम्हला द्वारा श्री क्षेत्र श्रवणबेलगोल की ओर से जैन दंपति का आत्मीयता पूर्वक स्वागत किया गया।

विमुक्त शोभा जैन, जयनगर, बैंगलोर (कर्नाटक)

## तत्त्वार्थसूत्र में प्रयुक्त 'च' शब्द का विश्लेषणात्मक विवेचन

पं० महेशकुमार जैन, व्याख्याता

### अष्टम अध्याय

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रा-निद्रानिद्राप्रचला-  
प्रचलाप्रचला-स्त्यानगृह्यश्च ॥ ७ ॥

सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक व सुख-  
बोध-तत्त्वार्थवृत्ति में 'च' शब्द की व्याख्या नहीं की है।

तत्त्वार्थवृत्ति- चकारश्चतुर्भिः पंचभिश्च आवरणैः  
समुच्चयते।

अर्थ- चार के द्वारा और पाँच के द्वारा आवरण  
होता है। इसके समुच्चय के लिए 'च' शब्द दिया है।

भावार्थ- चक्षुदर्शन आदि चार तथा निद्रा आदि  
पाँच, इन सबके कारण दर्शन में आवरण होता है। इसका  
समुच्चय करने के लिए सूत्र में 'च' शब्द दिया है।

दर्शनचारित्रमोहनीयाकषाय-कषाय-वेदनीयाख्यास्-  
त्रि-द्वि-नव-षोडश भेदाः सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-तदुभयान्य-  
कषाय-कषायौ हास्य-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्री-  
पुनपुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान-  
सञ्चलन-विकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥ ९ ॥

सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, तत्त्वार्थवृत्ति  
व सुखबोधतत्त्वार्थवृत्ति आदि ग्रंथों में च शब्द की विशेष  
व्याख्या नहीं की है।

गतिजातिशरीरांगोपांगनिर्माण-बंधन-संघात संस्थान-  
संहनन-स्पर्श-रस-गन्ध वर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघात परघातात-  
पोद्योतोच्छ्वास-विहायोगतयः प्रत्येकशरीर-त्रस-सुभग-  
सुस्वर-शुभ-सूक्ष्म-पर्याप्ति-स्थिरादेय-यशःकीर्ति-सेतराणि  
तीर्थकरत्वं च ॥ ११ ॥

सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, तत्त्वार्थवृत्ति  
व सुखबोधतत्त्वार्थवृत्ति आदि ग्रंथों में सूत्र में आये च  
शब्द की व्याख्या नहीं की है।

उच्चैर्नीचैश्च ॥ १२ ॥

सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक व सुखबोध-  
तत्त्वार्थवृत्ति में 'च' शब्द की व्याख्या नहीं की है।

तत्त्वार्थवृत्ति-चकारः परस्परसमुच्चये वर्तते।  
तेनायमर्थः- न केवलमुच्चैर्गोत्रं नीचैश्च गोत्रम्।  
गोत्रप्रकृतेरुत्तरप्रकृती द्वे भवतः।

अर्थ- सूत्र में चकार परस्पर समुच्चय के लिए  
है, जिससे यह अर्थ होता है कि केवल उच्च गोत्र नहीं

है, नीच गोत्र भी है। इस प्रकार गोत्रकर्म प्रकृति के दो  
भेद होते हैं।

आचार्यश्री- सूत्र में आये 'च' शब्द से गोत्र कर्म  
के छह भेद- उच्चउच्च, उच्च उच्चनीच, नीचउच्च, नीच,  
नीचनीच भी होते हैं इसका समुच्चय हो जाता है।

भावार्थ- उच्चगोत्र एवं नीचगोत्र इन दो भेदों के  
साथ गोत्रकर्म के छह भेद भी होते हैं। यथा- उच्चउच्च,  
उच्च, उच्चनीच, नीचउच्च, नीच और नीचनीच।

आदितस्तिष्ठणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपम-  
कोटी-कोटयः परा स्थितिः ॥ १४ ॥

सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, सुखबोध-  
तत्त्वार्थवृत्ति एवं तत्त्वार्थवृत्ति आदि ग्रंथों में 'च' शब्द की  
व्याख्या नहीं की है।

ततश्च निर्जरा ॥ २३ ॥

सर्वार्थसिद्धि- 'च' शब्दो निमित्तान्तरसमुच्चयार्थः।  
'तपसा निर्जरा च' इति वक्ष्यते ततश्च भवति अन्यतश्चेति  
सूत्रार्थो योजितः।

अर्थ- सूत्र में 'च' शब्द अन्य निमित्त का समुच्चय  
करने के लिए दिया है। 'तपसा निर्जरा च' यह आगे  
कहेंगे। इसीलिए 'च' शब्द के देने का यह प्रयोजन है  
कि पूर्वोक्त प्रकार से निर्जरा होती है और अन्य प्रकार  
से भी होती है।

राजवार्तिक- निमित्तान्तरसमुच्चयार्थश्चशब्दः ॥ ३ ॥  
तपसा निर्जरा च (१/३) इति वक्ष्यते तस्य  
समुच्चयार्थश्चशब्दः क्रियते- ततश्च भवति अन्यतश्चेति।

अर्थ- निमित्तान्तरों के समुच्चय के लिए सूत्र में  
'च' शब्द का प्रयोग किया गया है। तत्त्वार्थसूत्र के नवम  
अध्याय के तीसरे सूत्र में कहा है- 'तपसा निर्जरा च।'  
तप से निर्जरा होती है, अतः 'च' शब्द से संवर के  
प्रकरण में कहे जानेवाले तप का संग्रह हो जाता है।  
अर्थात् कर्म फल देकर भी झड़ जाते हैं और तप से  
भी झड़ते हैं।

श्लोकवार्तिक- निमित्तान्तरसमुच्चयार्थश्चशब्दः।  
तच्च निमित्तान्तरं तपो विज्ञेयं, तपसा निर्जरा चेति  
वक्ष्यमाणत्वात्।

अर्थ- निमित्तान्तर का समुच्चय करने के लिए सूत्र में 'च' शब्द दिया है और वह निमित्तान्तर तप जानना चाहिये। तप के द्वारा निर्जरा होती है, यह आगे कहेंगे।

सुखबोधतत्त्वार्थवृत्ति- तत इत्यनुभवाद्धेतोरित्यर्थः। च शब्दस्तपसा निर्जरा चेति वक्ष्यमाणनिमित्तान्तर-समुच्चयार्थः। स्वोपात्तकर्मनिर्जरणं निर्जरादेशतः कर्म-संक्षय इत्यर्थः। ततोऽनुभवात्तपसा च निर्जराया जाय-मानत्वाद्विपाक-जाऽविपाकजत्वसद्भावाद् द्वैविध्य-मुपदर्शितं बोद्धव्यम्।

अर्थ- सूत्र में 'ततः' शब्द अनुभव का सूचक है अर्थात् अनुभव से। 'च' शब्द 'तपसा निर्जरा च' ऐसे आगे कहे जानेवाले सूत्रोक्त निमित्त का समुच्चय करने के लिए है। अपने द्वारा प्राप्त किये गये जो कर्म हैं, उनकी निर्जरा होना अर्थात् एक देश से कर्म का क्षय होना निर्जरा कहलाती है। इस तरह निर्जरा के अनुभव और तप से होने के कारण यहाँ उसके विपाकजा और

अविपाकजा इन दो भेदों का सद्भाव होने से निर्जरा की द्विविधता बताई गई है, ऐसा समझना चाहिये।

तत्त्वार्थवृत्ति- चकारात् 'तपसा निर्जरा च' ( तत्त्वार्थसूत्र ९/३ ) इति वक्ष्यमाणसूत्रार्थो गृह्यते। अयमत्र भावः- निर्जरा स्वतः परतश्च भवतीति सूत्रार्थो वेदितव्यः।

अर्थ- सूत्र में आये चकार से 'तपसा निर्जरा च' यह आगे कहे जानेवाला सूत्र ग्रहण करना चाहिये। यहाँ यह भाव है कि- निर्जरा स्वतः भी होती है और परतः भी होती है। यह सूत्र का अर्थ जानना चाहिये।

भावार्थ- निर्जरा के दो भेद होते हैं- सविपाक निर्जरा एवं अविपाक निर्जरा। सूत्र में सविपाक निर्जरा की चर्चा है एवं सूत्र में आये 'च' शब्द से अविपाक निर्जरा का ग्रहण किया गया है जो कि तप आदि के द्वारा होती है।

श्री दि० जैन श्रमण संस्कृति संस्थान  
सांगानेर, जयपुर ( राज० )

### योगसार ( अध्यात्मदेशना ) राष्ट्रीय विद्वत्संगोष्ठी सम्पन्न

परम पूज्य आचार्य श्री विशुद्धसागर जी महाराज के सान्निध्य में 'योगसार-अध्यात्मदेशना' राष्ट्रीय विद्वत्संगोष्ठी अ. भा. दि. जैन शास्त्रपरिषद् के अध्यक्ष डॉ० श्रेयांसकुमार जैन के सयोजकत्व में श्री दिगम्बर जैनमन्दिर, सुभाषगंज, अशोकनगर ( म.प्र. ) में दिनांक २४ एवं २५ अक्टूबर ०९ को सम्पन्न हुई, जिसमें निम्नलिखित विद्वानों ने सहभागिता की एवं शोधालेखों का वाचन किया- ब्र. प्रद्युम्न जैन अशोकनगर प्रा० नरेन्द्र प्रकाश जैन फिरोजाबाद, प्रा. निहालचन्द्र जैन बीना, डॉ० रतनचन्द्र जैन भोपाल, डॉ० शेखरचन्द्र जैन, अहमदाबाद, डॉ० शीतलचन्द्र जैन, जयपुर, डॉ० कमलेशकुमार जैन, वाराणसी, डॉ० विजयकुमार जैन, लखनऊ, डॉ० कपूरचन्द्र जैन, खतौली, डॉ० अशोक कुमार जैन, वाराणसी, डॉ० वृषभप्रसाद जैन, लखनऊ, डॉ० नरेन्द्र कुमार जैन, सनावद, डॉ० कमलेश कुमार जैन, जयपुर, डॉ० सुरेन्द्र कुमार जैन, बुरहानपुर, प्रा० महेन्द्रकुमार जैन, मोरेना, पं० पुलक गोयल, सांगानेर, डॉ० सुरेश मारोरा, पं० पंकज जैन वाराणसी, डॉ० श्रीयांश जैन सिंघई जयपुर, श्री रमेशचन्द्र मनया भोपाल, आनंद प्रकाश जैन झाँसी, डॉ० सुशील जैन मैनपुरी, पं० पवन दीवान मुरैना। समागत सभी विद्वानों का दिगम्बर जैन समाज, अशोकनगर की ओर से सम्मान किया गया।

परम पूज्य आचार्य श्री विशुद्धसागर जी महाराज ने इस अवसर पर समाज को सम्बोधित करते हुए कहा कि जो चतुर्णिकाय के देवी-देवों को अरहन्त के समान पूजते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं। मात्र पंचपरमेष्ठी ही वंदनीय हैं। मिथ्यात्व सत् है इसलिए सत्य है किन्तु सत्यार्थ नहीं है, इसलिए मिथ्यात्व वर्जनीय है। संगोष्ठी के मध्य डॉ० श्रेयांस कुमार जैन, बड़ौत एवं डॉ० सुरेन्द्र कुमार जैन, बुरहानपुर ने अपने द्वारा सम्पादित 'पुरुषार्थदेशना अनुशीलन' कृति परम पूज्य आचार्य श्री को भेंट की। श्री अ.भा.दि. जैन विद्वत्परिषद् द्वारा प्रकाशित 'मूलाचार वसुनन्दि पारिभाषिक कोश' (सम्पादक-डॉ० रमेशचन्द्र जैन), 'श्रावकाचार संहिता' (डॉ० नरेन्द्र कुमार जैन, सनावद) 'विद्वद्-विमर्श' आदि कृतियाँ परिषद् की ओर से डॉ० शीतलचन्द्र जैन, डॉ० जयकुमार जैन, डॉ० नरेन्द्र कुमार जैन, डॉ० सुरेन्द्र कुमार जैन ने पूज्य आचार्य संघ को भेंट की। संगोष्ठी में सैकड़ों श्रद्धालुओं की निरंतर उपस्थिति प्रशंसनीय रही।

रमेशचन्द्र चौधरी अशोकनगर



# एक मार्मिक अपील

रमेशचन्द्र मनयां

राष्ट्रीय अध्यक्ष दि.जैन. विचार मंच, भोपाल

२१-२२, अक्टूबर २००९ को पूज्य मुनिश्री समतासागर जी महाराज तथा एलक श्री निश्चयसागर जी के दर्शन तथा चातुर्मास निष्ठापन के निमित्त से पहली बार सदलगा जाना हुआ। सदलगा कर्नाटक प्रदेश के बेलगाँव जिले का वह पुण्य क्षेत्र है जहाँ संत शिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागर जी की जन्मभूमि है और वहाँ से केवल दस कि.मी. दूर पर भोजग्राम स्थित है, जिसे इस युग के प्रथम दिगम्बर जैन आचार्य चारित्रचक्रवर्ती परमपूज्य आचार्य शान्तिसागर जी महाराज की जन्म स्थली होने का सौभाग्य प्राप्त है। यहाँ से २० कि.मी. दूर कोथली ग्राम है, जो आचार्य देश-भूषण जी महाराज की और वहीं से १० कि.मी. दूर शेडवाल ग्राम है, जो आचार्य श्री विद्यानन्द जी महाराज की जन्मभूमि है।

पूज्य समतासागर जी से अनुमति लेकर मैं इन धर्मतीर्थों के दर्शन करने गया। युग के प्रथम आचार्य की जन्मभूमि के दर्शनों के लिये बड़े दिनों से सपने संजोकर रखे थे, किन्तु उस पुण्य क्षेत्र की दशा को देख कर एक बड़ा धक्का लगा। सारे सपने चूर-चूर हो गये।

वर्तमान में वहाँ प्रथमाचार्य की गृहस्थावस्था के पौत्र (भतीजे के पुत्र) और उनका परिवार निवास कर रहा है। उनकी प्रपौत्री ने बताया कि सामान्य दिनों में प्रतिदिन दस-पन्द्रह तीर्थयात्री और विशिष्ट अवसरों पर ५०-६० दर्शनार्थी प्रतिदिन उनके घर आते हैं। उनके आभिजात्य संस्कारी वंशज सभी दर्शनार्थियों की मिष्टान्न, दूध, पानी आदि से यथोचित आवभगत करते हैं।

उनके मुस्कराते चेहरे के पीछे छिपी विवशता और विपन्नता किसी भी संवेदनशील व्यक्ति की नजरों से छिपती नहीं है। उस घर की अवस्था और गृहस्वामी की वृद्धावस्था-जन्य निष्क्रियता देख कर मेरा मन भर आया। आचार्य देशभूषण जी महाराज की जन्मस्थली कोथली का भी कमोवेश यही चिन्तनीय हाल है।

देश-विदेश में लगभग २ करोड़ जैन हैं और लगभग १ हजार जैन साधु होंगे, जो सभी आचार्य शान्तिसागर जी के पुरुषार्थ के कारण ही आज जैन या जैन साधु होने पर गर्व कर रहे हैं, किन्तु अपने आदि गुरु के वंशजों और उस पुण्यभूमि, जहाँ पर उनका जन्म हुआ

उसकी सुध किसने ली है और अभी तक क्या किया? देश के अन्य महापुरुषों, जैसे महात्मा गाँधी, पं० नेहरू, इन्दिरा गाँधी इनसे सम्बन्धित स्मारकों को देखिए उनकी सुव्यवस्था को देखें।

जैन समाज की सम्पन्नता, संवेदनशीलता, बौद्धिकता और उद्योग व्यापार, अखिल भारतीय सेवाओं, न्यायिक सेवाओं को देखते हुए चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागर के पैतृक घर की उपर्युक्त व्यवस्था का सामंजस्य किस दशा में बैठा है, यह देश विदेश के प्रत्येक जैन साधु और जैन व्यक्ति के लिये चिन्तनीय और विचारणीय है।

देश की अखिल भारतीय दिगम्बर जैन संस्थाओं, महासभा, महासमिति, दिगम्बर जैन परिषद्, दक्षिण प्रान्तीय जैन समिति, बड़े उद्योगपति, बिल्डर तथा कॉन्स्ट्रक्शन कम्पनी आदि से मेरी मार्मिक अपील है तथा देश के सभी आचार्यों मुनि महाराजों से नमोऽस्तुपूर्वक निवेदन है कि वे अपने प्रभाव का उपयोग करके इंगित मात्र कर देंगे, तो आचार्य शान्तिसागर, आचार्य देशभूषण जी तथा विद्यानन्द जी महाराज की जन्मस्थली संबंधी यह कार्य अधिक से अधिक एक महीने में पूरा हो सकता है। सदलगा में विराजे पूज्य मुनि श्री समतासागर जी, निश्चयसागर जी ने भी आशीर्वाद देकर और अशोक नगर में हाल ही में सम्पन्न अ.भा. विद्वत्संगीष्ठी में एक स्वर से सभी विद्वानों ने मेरी बात का समर्थन किया तथा अपनी-अपनी पत्र पत्रिकाओं के माध्यम से मेरी इस अपील को देश भर में प्रचारित करने का विश्वास दिलाया।

जैन समाज के अखिल भारतीय पदाधिकारियों का एक प्रतिनिध मण्डल भारत सरकार एवं कर्नाटक सरकार से मिलकर बेलगाँव जिले के ५०कि.मी. के क्षेत्रफल में आनेवाली इन तीन पुण्यभूमियों : भोजग्राम, कोथली और शेडवाल को धार्मिक नगरी या धार्मिक क्षेत्र (जैसे अमृतसर, उज्जैन, मन्दसौर) घोषित करने के लिये लगातार और ईमानदार प्रयास करें तो उचित होगा।

मैं अपनी सम्पूर्ण सामर्थ्य, क्षमता और क्रियाशीलता के साथ इस कार्य में यथायोग्य सहयोग देने के लिये कृतसंकल्प हूँ। मुझे विश्वास है कि इस सम्बन्ध में मुझे सभी आचार्यों, मुनियों के आशीर्वाद प्राप्त होंगे।

## जिज्ञासा-समाधान

पं० रतनलाल बैनाड़ा

**जिज्ञासा-** क्या व्यवहारपल्य संख्यात वर्षों का होता है या असंख्यात वर्षों का?

**समाधान-** व्यवहारपल्य के सम्बन्ध में आम धारणा यही है कि यह असंख्यात वर्षों का होता है, जबकि त्रिलोकसार गाथा नं. ९८ तथा ९९ के अनुसार ऐसा नहीं है। गाथा नं. ९८ में कहा गया है कि व्यवहारपल्य का समय निकालने के लिए यदि रोमों को गिना जाय तो उनकी संख्या ४५ अंक प्रमाण होती है। इसी त्रिलोकसार ग्रन्थ की गाथा नं. ९९ में इसप्रकार कहा है-

वस्ससदे वस्ससदे एक्केक्के अवहिदम्हि जो कालो ।

तक्कालसमयसंखा णेया व्यवहारपल्लस्स ॥ ९९ ॥

**अर्थ-** प्रत्येक १०० वर्ष बाद एक-एक रोम के निकाले जाने पर जितने काल में समस्त रोम समाप्त हों उतने काल के समय ही व्यवहारपल्य के समयों की संख्या है।

**विशेषार्थ-** कुण्ड में भरे हुए ४५ अंक प्रमाण उपर्युक्त रोमों में से यदि एक-एक रोम को १०० वर्ष बाद निकाला जाय तो व्यवहारपल्य के वर्षों की संख्या आती है, अर्थात् व्यवहारपल्य के वर्षों की संख्या ४५ अंक प्रमाण में दो शून्य और लगा देने से ४७ अंक प्रमाण वर्ष एक व्यवहारपल्य के होते हैं। यह संख्या, संख्यात में आती है, असंख्यात में नहीं।

तिलोयपण्णत्ति गाथा १/१२५ में भी उपर्युक्त प्रकार ही कहा गया है।

**जिज्ञासा-** क्या ४-५ माह की गर्भवती महिला को पूजा नहीं करनी चाहिए? आगमप्रमाण से बताएँ?

**समाधान-** उपर्युक्त प्रश्न के संबंध में कोई आगम-प्रमाण मेरी दृष्टि में नहीं आया। मैंने उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर मुनिसंघों और आर्यिकासंघों से पूछा तो समाधान प्राप्त हुआ कि ४-५ माह की गर्भवती महिला को पूजा से दूर करना कदापि उचित नहीं है। गर्भवती महिला के पूजा-स्तवन आदि से गर्भस्थ शिशु पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है, उसमें धार्मिक संस्कार बनते हैं। अतः प्रसूतिवाले दिन तक भी गर्भवती महिला को पूजा करनी चाहिए। मध्यप्रदेश के बहुत से स्थानों में ऐसी परम्परा सुनने में आई है कि वे ४-५ माहवाली गर्भवती को आगे पूजा नहीं करने देते हैं, जब कि उत्तरप्रदेश आदि में अंतिम दिन तक भी पूजा करने से नहीं रोका जाता, बल्कि ऐसी महिलाओं के साहस

तथा गर्भस्थ शिशु के भाग्य की सराहना की जाती है। ४-५ माह की गर्भवती महिला को, मुनि को आहारदान देने से तथा बड़ी पूजा या विधान आदि में बैठने से अवश्य दूर रखा जाता है, जिसका कारण पूछने पर पूज्य आचार्यश्री ने एक बार बताया था कि मुनि आहार के समय में भीड़-भाड़ होने के कारण अथवा बड़ी पूजा आदि के काल में कई घण्टों तक व्यस्त रहने के कारण गर्भस्थ शिशु तथा गर्भवती महिला को असुविधा हो सकती है, जिसके कुछ गलत परिणाम भी हो सकते हैं। अतः आहार देने अथवा पूजा में बैठने से मना किया जाता है। परन्तु जिनपूजा से मना करने का तो प्रश्न ही नहीं है।

पूज्य आचार्यश्री के अनुसार, हमारी जो सामयिक परम्पराएँ आगमसम्मत न हों और हमें धर्म से दूर रखती हों, उनको बदल देना चाहिए। आशा है जिन स्थानों पर उपर्युक्त परम्परा चल रही है, वे उपर्युक्त समाधान के अनुसार बदलने का प्रयत्न करेंगे।

**जिज्ञासा-** स्वाध्याय को परम तप क्यों कहा गया है, जब कि परम तप तो ध्यान को मानना चाहिए?

**समाधान-** उपर्युक्त जिज्ञासा के संबंध में शास्त्रों के निम्न प्रमाण द्रष्टव्य हैं-

१. मूलाचार प्रदीप में श्लोक नं. १९९३ से १९९७ तक इस प्रकार कहा गया है-

समस्ततपसां----- शिवशर्मणे ॥ १९९३-१९९७ ॥

**अर्थ-** समस्त तपश्चरणों में विद्वान् पुरुषों को इस स्वाध्याय के समान न तो अन्य कोई तप आज तक हुआ है, न है, और न आगे होगा। इसका भी कारण यह है कि स्वाध्याय करनेवालों के पञ्चेन्द्रियों का निरोध अच्छी तरह होता है तथा तीनों गुणियों का पालन होता है और संवर, निर्जरा तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस स्वाध्याय से ही मुनियों के योगों की शुद्धि होती है तथा महाशुक्ल-ध्यान प्राप्त होता है। शुक्लध्यान से घातिया कर्मों का नाश होता है, जिससे केवलज्ञान प्रकट होता है। केवलज्ञान के होने से इन्द्र भी आकर पूजा करता है तथा अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार इस स्वाध्याय का सर्वोत्कृष्ट फल समझकर विद्वान् पुरुषों को मोक्षसुख प्राप्त करने के लिए प्रमाद छोड़कर प्रतिदिन स्वाध्याय करना चाहिए।

२. आचारसार में इस प्रकार कहा है-

स्वस्मै योऽसौ हितोऽध्यायः स्वाध्यायो वाचनादिकः ।

तपो वर्यमतो नान्यत्तपःसु द्वादशस्वपि ॥ १५ ॥

नोर्ध्वमन्तर्मुहूर्तात्सद्धानमध्ययनं पुनः ।

सदैनो निर्जराकारि किन्तु न स्यात्कृतात्मनाम् ॥ १६ ॥

अर्थ- जो अपने लिए हितकारी है, वह वाचनादि स्वाध्याय है और १२ प्रकार के तपों में, स्वाध्याय तप से दूसरा श्रेष्ठ तप कोई नहीं है ॥ ६/१५ ॥

अन्तर्मुहूर्त के ऊपर सद्धान नहीं है। परन्तु पुण्यात्माओं के पाप का निर्जराकारी स्वाध्याय निरंतर होता है। अर्थात् ध्यान अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं हो सकता है परन्तु स्वाध्याय तो निरंतर किया जा सकता है, जो पुण्यात्माओं के पाप की निर्जरा का कारणभूत है।

३. भगवती आराधना (गा.१०६) में इस प्रकार कहा है-

वारसविहम्मि य तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।

ण वि अत्थि ण वि य होहिदि सञ्जायसमं तवो कम्मं ॥ १०६ ॥

अर्थ- सर्वज्ञ के द्वारा कहे गये आभ्यंतर और बाह्य भेद सहित बारह प्रकार के तप में स्वाध्याय के समान तप क्रिया नहीं है, और न होगी ही।

प्रश्नकर्ता- जितेन्द्र भाई मेहता, राजकोट।

जिज्ञासा- राग-द्वेष आदि जीव के परिणाम हैं, इनको चेतन माना जाय या अचेतन और क्यों ?

समाधान- द्रव्यानुयोग के शास्त्रों में रागद्वेष आदि परिणामों को भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से कहीं चेतनरूप कहा गया है और कहीं अचेतनरूप। श्री समयसार के कर्ता-कर्म अधिकार गाथा नं. ११६-११९ (सामण्य पच्चया - कम्माणि) की टीका में आचार्य जयसेन महाराज ने इसप्रकार कहा है- "जीव और पुद्गल इन दोनों के संयोग से उत्पन्न होनेवाले मिथ्यात्तरागादिरूप जो भाव-प्रत्यय हैं, वे अशुद्ध उपादानरूप, अशुद्धनिश्चयनय से चेतन हैं, क्योंकि जीव से सम्बद्ध हैं, किन्तु शुद्ध उपादानरूप शुद्धनिश्चयनय से ये सभी अचेतन हैं, क्योंकि पौद्गलिक कर्म के उदय से हुए हैं। तात्पर्य यह है कि अशुद्ध निश्चयनय आत्मा को विकारमय देखता है, अतः उसकी दृष्टि में रागादि भाव आत्मा में ही उत्पन्न होते हैं इसलिए चेतन ही हैं। किन्तु शुद्ध निश्चयनय आत्मा को शुद्ध देखता है, तो वहाँ रागादिक भाव होते ही नहीं हैं, अतः उसकी दृष्टि में राग-द्वेष आदि भाव पुद्गलकर्म के उदय से होते हैं, इसलिए वे पौद्गलिक हैं और अचेतन हैं।

उपर्युक्त प्रकार से सही व्याख्या समझकर धारणा बनानी चाहिए।

प्रश्नकर्ता- श्रीमती निर्मला कोठारी, पुणे।

जिज्ञासा- हम पूजा करते हैं, तो मात्र पुण्य बन्ध ही होता है, या निर्जरा भी होती है?

समाधान- जिनपूजा करने से पुण्य का बन्ध तथा निर्जरा दोनों होते हैं। कुछ लोगों की ऐसी मान्यता है कि पूजा-भक्ति करने से अथवा शुभोपयोग से, मात्र पुण्यबंध होता है, निर्जरा नहीं होती, ऐसी धारणा आगमसम्मत नहीं है। इस संबंध में कुछ आगमप्रमाण इस प्रकार हैं-

१. श्री धवला पु. १०, पृष्ठ २८९ पर इस प्रकार कहा है-

“जिणपूजा वंदण-णमंसणेहि य बहुकम्म-पदेसणिज्जरुवलंभादो ।”

अर्थ- जिनपूजा, वंदना और नमस्कारादि शुभ भावों से भी बहुत कर्मप्रदेशों की निर्जरा पाई जाती है।

२. श्री पद्मपुराण ३२/१८३ में इसप्रकार कहा है-  
कर्म भक्त्या जिनेन्द्राणां, क्षयं भरत गच्छति।

क्षीणकर्मा पदं याति यस्मिन्ननुपमं सुखम् ॥ ३२/१८३ ॥

अर्थ- हे भरत! जिनेन्द्रदेव की भक्तिरूप शुभ भाव से कर्म क्षय को प्राप्त हो जाते हैं और जिसके कर्म क्षीण हो जाते हैं, वह अनुपम सुख से सम्पन्न परमपद अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है।

३. अमितगति श्रावकाचार में इसप्रकार कहा है-  
प्रशस्ताध्यवसायेन सञ्चितं कर्म नाशयते।

काष्ठं काष्ठांतकेनेव दीप्यमानेन निश्चितम् ॥ ८/५ ॥

अर्थ- जैसे जाज्वल्यमान आग से काठ का नाश होता है, वैसे ही शुभपरिणाम अर्थात् पुण्यरूप जीवपरिणाम से संचित कर्म नाश को प्राप्त होता है।

इस प्रकरण में यह भी जानने योग्य है कि मिथ्या-दृष्टि जीव यथार्थ तत्त्व श्रद्धान न होने के कारण सांसारिक भोगों की प्राप्ति के भावों से जिनपूजा आदि कार्य करता है, जिससे उसके मात्र पुण्य बन्ध होता है, निर्जरा नहीं होती।

उपर्युक्त तीनों प्रमाण सम्यग्दृष्टि जीवों के संदर्भ में ही मानने चाहिए।

जिज्ञासा- निद्रा के समय हम कुछ भी नहीं कर रहे होते हैं, तो उस समय हमें कर्मबन्ध भी नहीं होना चाहिए। क्या ऐसा मानना उचित है? यह भी बताएँ कि स्वाध्याय के समय भी क्या ज्ञानावरणीय कर्म का बंध होता है या नहीं?

समाधान- सप्तम गुणस्थान तक के प्रत्येक जीव

के चाहे वह निद्रा में हो या कुछ भी क्रिया कर रहा हो, आयुकर्म को छोड़कर शेष साथ कर्मों का बन्ध प्रतिसमय होता ही है। क्योंकि उसके बन्ध के कारणभूत कषाययोग आदि पाये ही जाते हैं। यदि आयुकर्म का अषकर्षकाल हो और तद्योग्य परिणाम भी हों, तो उस काल में आठों कर्मों का बन्ध होता है। निद्रा के काल में आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन होता ही है, अतः योग एवं कषाय आदि होने से बन्ध प्रतिसमय होता ही है।

प्रत्येक संसारी जीव के ४७ ध्रुवबन्धी प्रकृतियों का बन्ध प्रतिसमय होता ही है। श्री धवल पुस्तक ८, पृष्ठ १७, के अनुसार वे ४७ प्रकृतियाँ इसप्रकार हैं- ज्ञानावरण की ५, अन्तराय की ५, दर्शनावरण की ९, दर्शनमोहनीय की १, (मिथ्यात्व) चारित्रमोहनीय की १८, (कषाय १६, तथा भय और जुगुप्सा १८), नामकर्म की ९ (तेजस शरीर, कार्मण शरीर, वर्ण आदि ४, अगुरुलधु, उपघात तथा निर्माण)=४७।

अतः स्वाध्याय करते समय भी ज्ञानावरणकर्म की पाँचों प्रकृतियों का बंध-होना स्वाभाविक है। इतना अवश्य है कि स्वाध्याय के काल में कषायों की मन्दता होने के कारण बँधने वाले कर्मों में स्थिति कम पड़ेगी और पाप-प्रकृतियों में अनुभाग कम एवं पुण्यप्रकृतियों में अनुभाग अधिक पड़ेगा। तदनुसार ज्ञानावरण कर्म पाप प्रकृति है, अतः स्वाध्याय काल में उसका बन्ध तो होगा, परन्तु स्थितिबंध और अनुभागबंध कम होगा।

**जिज्ञासा-** संसारी अवस्था में क्या नवग्रह आदि के कारण हमारा अच्छा बुरा होता है या नहीं? इस संबंध में शास्त्र क्या कहते हैं?

**समाधान-** आजकल बहुत से जैनी भाई अपने आपको नवग्रह की बाधा से पीड़ित मानते हुए तरह-तरह के मन्त्र-जाप-विधानादि करते हुए देखे जा रहे हैं। वर्तमान के कुछ आचार्य एवं मुनि भी उन भाइयों को ग्रहशान्ति के लिए नवग्रहविधान तथा कालसर्पयोगविधान आदि कराते हुए देखे जा रहे हैं। यह सब कलिकाल का प्रभाव है।

ऐसे अज्ञानी जीव कितने ही शास्त्रीय प्रमाण बताए जाने पर भी अपनी गलत धारणा को बदलने के लिए तैयार नहीं होते। इस संबंध में वरांगचरित सर्ग-२४ में इस प्रकार कहा है- “ग्रहों की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता के कारण ही संसार का भला अथवा बुरा होता है, जो लोग इस प्रकार का उपदेश देते हैं, वे संसार के भोले, अविवेकी प्राणियों को साक्षात् ठगते हैं। क्योंकि यह सिद्धान्त वास्तविकता से बहुत दूर है। यदि यह सत्य हो तो, जो लोग इस पर आस्था करते हैं, सबसे पहले वे अपनी उन्नति तथा अभ्युदय को क्या नहीं करते हैं? यदि शुभग्रहों के मिलने से ही सुख-सम्पत्ति होती है, तो क्या कारण है कि श्रीरामचन्द्र जी का अपनी प्राणाधिका से वियोग हुआ था, जबकि उनकी तथा सीताजी की कुण्डली तो बहुत सुन्दररूप से मिली थी। ग्रहों के गुरु शुक्राचार्य के द्वारा कही गई नीति यदि ऐसी है कि उसका पालन करने पर कभी किसी की हानि हो ही नहीं सकती है, तो वह रावण जो कि उसका विशेषज्ञ था क्यों अपनी स्त्री तथा बच्चों के साथ सदा के लिए नष्ट हो गया? ----- उग्र तेजस्वी सूर्य तथा जगत को मोह में डालने के योग्य अनुपम कान्ति तथा सुधा के अनन्त स्रोत चन्द्रमा का दूसरे ग्रहों (राहु तथा केतु) के द्वारा ग्रसना, इन्द्र के प्रधानमंत्री अनुपम मतिमान् वृहस्पति का दूसरों के द्वारा भरणपोषण तथा इस लोक के सुविख्यात मौलिक विद्वानों की दारुण-दरिद्रता को देखकर कौन ऐसा बुद्धिमान व्यक्ति है, जो कि इस लोकप्रवाद पर विश्वास करेगा कि संसार के सुख-दुख के कारण सूर्य आदि ग्रह ही हैं।”

उपर्युक्त प्रकरण से स्पष्ट है कि ग्रह आदि हमको सुखदुख देने में कारण नहीं हैं। ये मात्र सूचना देने में निमित्त हैं। इनकी पूजा करना अथवा इनकी शान्ति के लिए विधान आदि करना मिथ्यात्व है। सांसारिक कष्ट आदि आने पर हमें निष्कामभाव से सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति-पूजा आदि करनी चाहिए, जिससे स्वयमेव ही अशुभ कर्मों का संक्रमण या अनुभाग हीन हो जाने से सांसारिक कष्ट दूर होते हैं। ऐसी धारणा बनाना ही उचित है।

### भूल-सुधार

‘जिनभाषित’ नवम्बर २००९ के जिज्ञासा-समाधान में पृष्ठ २७ पर जो भावार्थ दिया गया है, उसे इस प्रकार सुधार कर पढ़ें-

“कोई उपशम सम्यग्दृष्टि या क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव जब मिथ्यात्व गुणस्थान में आ जाता है, तब उसकी सत्ता में जो सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृति हैं, उनकी उद्वेलना प्रारम्भ हो जाती है, अर्थात्---।”

## आचार्य विद्यासागर महाराज और उनका 'भावनाशतकम्'

डॉ० शिखरचन्द्र जैन

भावनाशतकम् (तीर्थंकर ऐसे बने), रचयिता-आचार्य १०८ श्री विद्यासागर जी महाराज, संस्कृत टीकाकार- डॉ० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, प्रकाशक- निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन समिति, पी-४, कलाकार स्ट्रीट, कोलकाता- ७००००७ (५० बंगाल) द्वितीयावृत्ति-२००८, पृष्ठ-१२०, मूल्य-१० रुपये।

प्रातःस्मरणीय श्रद्धेय परमपूज्य कुशाग्रबुद्धि, बहुभाषाधिकारी (रसनाग्रनर्तकीविद्या) जैन आचार्य विद्यासागर (जन्म १० अक्टूबर, १९४६, चिक्कोड़ी (बेलगाँव) कर्नाटक) विलक्षणप्रतिभा के धनी हैं। उनकी मानसिक, शारीरिक, दुरुहतपस्यानिस्सृतवाणी 'भावनाशतकम्' काव्य में परिपूर्ण रूप से परिलक्षित होती है। शब्दालंकार-बहुल यह ग्रन्थ हृदय से सहजरूप में रचित है, जहाँ पर कि हृदय के तन्तुओं से सरस्वती की लहरें कल्लोल करती हुई श्लोकरूप में प्रस्फुटित होती हैं (Spontaneous Flow) जो आधुनिक वैज्ञानिक युग की प्रवृत्तियों एवं जीवन को नवीन रूप में परिणत कर रही हैं। मनुष्यों में इन्द्रियसुख की लालसा वायुयान की गति को भी परास्त कर रही है। अखिल विश्व संक्षिप्त प्रतीत होता है। इच्छारूपी घोड़े पर बैठा हुआ मनुष्य पंचेन्द्रिय सुख की लालसा में लिप्त है, किन्तु इसके हाथ में संयम रूप चाबी नहीं है, इसलिए गिरने पर वह चकनाचूर हो जाएगा। इसकी तनिक भी भनक उसके हृदय में नहीं है। चारों ओर अंधकार व्याप्त है। कैसा आश्चर्य! चकाचौंध के मध्य अंधेरा, सुविधाओं में विनाश और आपस में कलह। परन्तु यहाँ पर एक ऐसा व्यक्ति प्रासंगिक है, जिसने बाल्यकाल से ही सांसारिक वैभव से मुँह मोड़ लिया और इन्द्रियजन्य सुख को तिलांजलि दे दी, और जिसने मानवमात्र के कल्याण के लिये आत्मालोचन किया तथा आत्मध्यान, आत्मचिन्तन में तल्लीन हो गया। उसने विषयभोगों को ऐसा ललकारा कि वे मुँह छिपाकर भाग गए। ऐसे महर्षि-प्रणीत साहित्य का समाज पर गहरा प्रभाव अवश्य पड़ेगा, क्योंकि ये शब्द तपस्या-निस्सृत हैं।

पूज्य आचार्य विद्यासागर-रचित ग्रन्थ चिन्तनसाध्य हैं। उन्होंने भव्य श्रावक-श्राविकाओं को आशीर्वाद रूप में अन्य ग्रन्थ दिए हैं, जो जिस प्रकार ग्रहण करना चाहे उस ज्ञानपुंज को प्राप्त कर सकता है। साहित्य की कसौटी

पर आप महान् दार्शनिक के रूप में प्रकट हुए हैं। ज्ञान का अक्षय भण्डार आप स्वयं हैं। कालजयी हिन्दी महाकाव्य 'मूकमाटी', ६ संस्कृत शतक, संस्कृत चम्पू काव्य, ९ हिन्दी शतक, ३ हिन्दी काव्य संग्रहों जैसी अनेक रचनाओं का संस्कृत, हिन्दी कन्नड़ बांगला एवं अँग्रेजी में भी प्रणयन, अनुवाद इत्यादि करके आपने सरस्वती देवी का आशीर्वाद प्राप्त किया है। जन्मना कन्नड़ भाषाभाषी होते हुए भी आचार्यश्री ने प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत भाषा के ग्रन्थों का गूढ़ अध्ययन किया है। आपने 'समयसार', 'प्रवचनसार', 'नियमसार', 'पंचास्तिकाय', 'बारसाणुवेक्खा', 'अष्टपाहुड' आदि प्राकृत भाषा के महान् ग्रन्थों का पद्यानुवाद कर जिज्ञासुओं को मनन करने में महान् सहयोग दिया है। पद्यानुवाद करने में उन्होंने ग्रन्थ के भाव को पूर्णरूप से समझा है एवं मूलभूत भावना को अनूदित किया है। स्वामी समन्तभद्र आचार्य के 'स्वयम्भूस्तोत्र' की सुन्दर हिन्दी-पद्यानुवादित अनोखी कृति 'समन्तभद्र की भद्रता' है। उसका यह नाम भी आचार्य जी ने बहुत भावपूर्ण रखा है। 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार', जो कि गृहस्थों के लिए एक आचारसंहिता की आधारशिला है, उसको 'रयणमंजूषा' के रूप में अनूदित किया है ताकि श्रावक-श्राविका किसी भ्रष्ट पथ में भटक न जाएँ एवं चरणीय मार्ग का आचरण करें। आचार्य पूज्यपाद-रचित ग्रन्थ 'इष्टोपदेश' का दो बार पद्यानुवाद कर आध्यात्मिक सुप्तावस्था को जागृत करने में वे सिद्धहस्त हुए हैं। गुणभद्राचार्य की कृति 'आत्मानुशासन' का 'गुणोदय' के नाम से हुआ अनुवाद आपकी अलौकिक ज्ञानप्रतिभा का परिचायक है। आचार्य अमृतचन्द्र के 'समयसार-कलश' का अनुवाद 'निजामृतपान' (कलशा-गीत) अपने आप में काव्यशृंखला का अनुठा ग्रन्थ है। इसमें भाषा, भाव एवं संयोजन अपने आप में अनुपम है। 'समणसुत्तं' ग्रन्थ का 'जैनगीता' के नाम से अनुवाद श्रावकों को भगवान् महावीर के सदुपदेशों को ग्रहण करने

में अत्यन्त सहायक एवं सहज रूप में प्राप्य बना देता है।

महाराजश्री-कृत अन्य अनुवादों में 'एकीभाव-स्तोत्र', 'कल्याणमन्दिरस्तोत्र', 'गोम्पटेस थुदि', 'आप्तमीमांसा', 'पात्रकैसरीस्तोत्र', 'नन्दीश्वरभक्ति', 'सिद्धभक्ति', 'आचार्यभक्ति', 'चारित्रभक्ति', योगभक्ति, 'निर्वाणभक्ति', चैत्यभक्ति, 'पंचमहागुरुभक्ति', 'शांतिभक्ति' एवं 'स्वरूपसंबोधन' इत्यादि मनुष्यों के हृदय में सद्भक्ति जागृत करते हैं। इनके स्तोत्रों की काव्यकला गायन रूप में प्रस्तुत होने पर मनुष्य आत्मपर्यालोचन में लीन होकर आत्मा के रूप को आत्मसात् कर अपना स्वरूप जानने में तत्पर होता है।

आपके साहित्य में दार्शनिक पुट, धार्मिक चेतना, नैतिक जागरण, मानवीय गुण एवं गंभीर चिन्तन परिलक्षित होता है। इतने ग्रन्थों का विशाल अध्ययन एवं लेखन किसी अदम्यशक्ति, सरस्वती के वरद पुत्र को ही संभव है। इस शक्ति को दैवी शक्ति कहें या परिश्रमप्राप्त विचक्षणता! धन्य है आचार्यश्री को, जिन्होंने अपने विशाल, निरन्तर अध्ययन से सरस्वती के भण्डार को और भी अधिक प्रदीप्त किया है। प्रतीत होता है आचार्यश्री लेखनी को स्वेच्छानुसार स्वरूप देते हैं। अब लेखनी इनकी आज्ञानुसार चलती है और इनकी इच्छा को पूर्णरूप से अंगीकार करती है। आपके प्रवचनसंग्रह भव्य प्राणियों को उद्बोधन करने में अत्यन्त सक्षम हैं। अपने रसमाधुर्य, भाषा-भाव-गाम्भीर्य से भाषा जनमानस तक सहजरूप में पहुँचती है। आपके प्रवचनसार संकलनरूप में समय-समय पर प्रकाशित हुए हैं, उनमें प्रमुख हैं- 'प्रवचन-पारिजात', 'प्रवचनप्रदीप', 'प्रवचनसुरभि', 'प्रवचनपीयूष', 'प्रवचनपर्व', 'प्रवचनामृत', 'प्रवचनपंचामृत', 'पावनप्रवचन', 'गुरुवाणी', 'अकिंचित्कर', 'सर्वोदयसार', 'आत्मानुभूति ही समयसार', 'आदर्श कौन?', 'डबडबाती आँखें', 'न धर्मो धार्मिकैर्विना', 'तेरा सो एक', 'जैनदर्शन का हृदय', 'जयन्ती से परे', 'कर विवेक से काम', 'चरण... आचरण की ओर', 'मानसिक सफलता', 'मर हम... मरहम बनें', 'भक्त का उत्सर्ग', 'ब्रह्मचर्य...चेतन को भोग', 'भोग से योग की ओर', 'धीवर की धी', 'सिद्धोदयसार', 'तपोवन देशना', 'कुण्डलपुर देशना', 'धर्मदेशना', 'प्रवचनिका', 'आदर्शों के आदर्श', 'समागम' एवं 'विद्यावाणी' इत्यादि। इन संग्रहों के पठन-पाठन एवं चिन्तन से मानसिक स्वरूप

सहिष्णुता, परोपकार, करुणा एवं सन्तोषधन से परिप्लावित होता है तथा आत्मरूप को समझता हुआ आत्मकल्याण की ओर अग्रसर होता है।

'भावनाशतकम्' (तीर्थकर ऐसे बने) लघुकाय रूप में या कहो खण्डकाव्य रूप में रचित अत्यन्त अर्थगाम्भीर्य पूर्ण कृति है, जिससे 'गागर में सागर' उक्ति चरितार्थ होती है (सतसइया के दोहरे....)। शब्दालंकार-बहुल यह ग्रन्थ विषय को उपस्थित करने में पूर्णरूप से सफल है एवं दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र में अनूठा स्थान रखता है। इस काव्य में आचार्यजी ने ८४ आर्या छन्द तथा १६ मुरज बन्धों में अनुष्टुप छन्द का प्रयोग किया है। मुरजबन्ध का प्रयोग इस ग्रन्थ के १०, १६, २२, २८, ३४, ४०, ४६, ५२, ५८, ६४, ७०, ७६, ८२, ८८, ९४ एवं १०० नम्बर के छन्दों में किया गया है।

चारों गतियों में मनुष्यगति सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि मनुष्यगति ही निर्वाण प्राप्ति में कारण है। तीर्थकर प्रकृति का बंध १६ कारणों से मनुष्य गति में ही प्रारम्भ होता है। ये १६ कारण तीर्थकर नामकर्म के आस्रव के कारण हैं। जो तीर्थ चलाते हैं, तीर्थ का उपदेश देते हैं वे 'तीर्थकर' होते हैं। तीर्थकरप्रकृति का बंध का प्रारम्भ कर्मभूमिया सम्यग्दृष्टि मनुष्य को केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में होता है। तीर्थकरप्रकृति का बन्ध १६ कारण भावनाएँ भाने से होता है। आचार्य उमास्वामी जी ने 'तत्त्वार्थसूत्र' के छठे अध्याय के चौबीसवें सूत्र में तीर्थकरप्रकृति के आस्रव की कारणभूत १६ भावनाओं का वर्णन किया है- १. दर्शनविशुद्धि २. विनयसम्पन्नता, ३. शील और व्रतों का अतिचार रहित पालन करना, ४. ज्ञान में सतत उपयोग, ५. सतत संवेग, ६. शक्ति के अनुसार त्याग, ७. शक्ति के अनुसार तप, ८. साधु समाधि, ९. वैयावृत्ति १०. अरिहंतभक्ति, ११. आचार्यभक्ति, १२. बहुश्रुतभक्ति, १३. प्रवचनभक्ति १४. आवश्यक क्रियाओं को न छोड़ना, १५. मोक्षमार्ग की प्रभावना, १६. प्रवचनवात्सल्य। किन्तु आचार्यश्री ने इन्हीं कारणों को किंचित् नामों में परिवर्तन कर वर्णित किया है, ये जो समीचीन हैं, परम्परा रूप में निरन्तर उपस्थित रहते हैं- १. निर्मलदृष्टि, २. विनयावनति, ३. सुशीलता, ४. निरन्तर ज्ञानोपयोग, ५. संवेग, ६. त्यागवृत्ति, ७. सत् तप, ८. साधुसमाधि-सुधासाधन, ९. वैयावृत्त्य, १०. अर्हद्भक्ति, ११. आचार्यस्तुति, १२. शिक्षागुरु-स्तुति, १३. भगवद्भारती-भक्ति, १४.

विमलावश्यक, , १५. धर्मप्रभावना, १६. प्रवचन-वत्सलता  
तीन मूढताओं का त्याग, शंका आदि आठ मलों से रहित होना, ज्ञान-दर्शन और चारित्र्य विनय से युक्त होना, अहिंसादि व्रत और उनके रक्षक, क्रोध त्याग आदि, शीलों में निर्दोष रूप से प्रवृत्त होना, निरन्तर ज्ञानमय उपयोग होना, संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होना, शक्ति के अनुसार दान देना, शक्ति के अनुसार उपवास आदि करना, साधुओं की चर्या में सहयोग करना एवं उनकी रक्षा करना, साधुसेवा करना, वीतराग प्रभु के गुणों का ध्यान करना, गुणीजनों के प्रति अनुराग रखना, उनका सम्मान करना इत्यादि ये भावनाएँ हैं, जो मनुष्य को परम पद की ओर अग्रसर करती हैं।

आचार्यश्री की शैली अत्यन्त सशक्त, विकसित एवं परिष्कृत है। जिस स्थान पर जैसा भाव या प्रसंग है उसी के अनुसार पदावली का प्रयोग है। मुरजबन्ध जैसा कठिन प्रयोग किया गया है। अलंकार योजना अति प्रभावोत्पादक है। दार्शनिक विषय को भी उन्होंने भव्य प्राणियों के लिए इसमें सुन्दर रूप में बताने का प्रयत्न किया है। वर्ण की विलोम शक्ति पर आपका अपूर्व अधिकार है। विचक्षण बुद्धि के धनी, संसार से विरक्त, महान् योगी विद्यासागर जी एक साक्षात् जीवित सरस्वती देवी के वरदपुत्र हैं। दिगम्बरत्व का साक्षात् स्वरूप एवं शास्त्रमर्मज्ञ आचार्य विद्यासागर विपुल ज्ञान के भण्डार हैं। कृतज्ञता प्रकाशन में वे पूज्य गुरुवर ज्ञानसागर जी को ही कारण मानते हैं, क्योंकि उनके ही आशीर्वाद से वे विद्यासागर कहलाते हैं-

“श्रीज्ञानसागरकृपापरिपाक एव,  
यद् भावना-शतककाव्यमधारिहन्तु।  
अध्यास्य सुश्रयमतोऽस्य सुशस्यकस्य,  
विद्यादिसागरतनुर्लघु ना भवामि ॥ १०१ ॥”

पूज्य ज्ञानसागर जी की कृपा से मेरे द्वारा पाप-रूप शत्रुओं को नष्ट करने वाला 'भावनाशतकम्' नामक काव्य का प्रणयन हुआ है। अतः अतिशय प्रशंसनीय आत्मावाले गुरु का आश्रय प्राप्त करके मैं एक साधारण मनुष्य विद्यासागर बन गया हूँ।

महर्षि के महान् विचार सांसारिक प्राणियों के लिए प्रेरणादायक हैं कि कृतज्ञ बनो, कृतघ्न नहीं। हे महान् गुरु ज्ञानसागर! आप मुझे दर्शन दें-

रतिरागविरक्तोऽसि सदगुरो! ज्ञानसागर!

रत्नाकराय दोषेशो दर्शनं देहि शंकरः ॥ ५ ॥

मंगलकामना

महान् योगी केवल समाधिलीन ही नहीं रहते। वे समस्त विश्व के कल्याण की सर्वदा शुभकामना भी करते हैं। उनका आदर्श चिन्तन हमारे देश के लिए सर्वदैव उन्नतिकर है-

भारतः सर्वदेशेषु भातु भेषु शशिप्रभा।

वनेऽप्यत्र सन्तः सन्ति मृगेन्द्राः विभया इव ॥ ६ ॥

मंगलकामना

उनकी राष्ट्र के प्रति महती मंगलकामना है कि भारतवर्ष सब देशों में उस तरह सुशोभित हो, जिस तरह नक्षत्रों में चन्द्रमा की प्रभा, तथा जिस प्रकार वन में सिंह निर्भय रहते हैं, उसी प्रकार इस देश में सत्पुरुष भी निर्भय रहें।

तले क्षितेर्जनाः सर्वे सुखिनः सन्तु सौगत।

कं भजन्तु सदैवैते यान्तु कदापि न ह्यकम् ॥ ७ ॥

मंगलकामना

हे भगवन्! पृथ्वी तल पर सब मनुष्य सुखी हों, ये सदा ही सुख को प्राप्त हों, कभी भी दुःख को प्राप्त न हों, ऐसी मेरी भावना है। कवि ने समस्त विश्व के प्रति ऐसी मंगलकामना की है।

राष्ट्रसन्त आचार्य विद्यासागर का परम सन्देश है-

“क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्” एवं कषायों को क्षीण करना, मानव मात्र के प्रति समर्पित होना- इन सदगुणों का पालन करते हुये अपने लक्ष्य मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर होना ही मनुष्य जन्म को सफल करना है। महान् साहित्यकार आचार्यश्री अपनी लेखनसंबंधी त्रुटियों के प्रति भी विनयावनत हैं-

क्षायोपशामिकज्ञानात् स्वखलनमत्र भावतः।

विज्ञैरतः समाशोध्य पठितव्यं सुखप्रदम् ॥ ८ ॥

मंगलकामना

आचार्यप्रवर कवि ही नहीं, अपितु उच्चकोटि के दार्शनिक भी हैं। कविजनोचित विदग्धता के साथ-साथ उच्चकोटि की विद्वत्ता एवं विश्व के प्रति, मंगलमय जीवन के प्रति भी उनका सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित है। 'भावनाशतकम्' ('तीर्थकर ऐसे बने') का आपके द्वारा किया गया पद्यानुवाद भी तत्त्वज्ञान से समाहित है। इसका प्रधान आधार तीर्थकर-प्रकृति की कारणभूत सोलह भावनाओं ('दर्शनविशुद्धि'

इत्यादि) का वर्णन है। अतः इसका वाचन, पारायण करना प्रत्येक श्रावक-श्राविका का अनन्य कर्तव्य है, ताकि वह मोक्षमार्ग को समझ सके एवं उपर्युक्त भावनाओं का चिन्तन करके आत्मकल्याण कर सके।

अन्त में विनयावनत आचार्य विद्यासागर उस स्थान

को भी शत-शत वन्दन कर कृतज्ञता प्रकाशन करते हैं, जहाँ की पवित्र भूमि पर इस महान् ग्रन्थ की रचना पूर्ण हुई है।

रिटायर्ड रीडर-संस्कृत विभाग

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

एफ-२२, प्रशान्त विहार, दिल्ली-११००८५

## सभी जैनों के द्वारा केन्द्रीय स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्री को प्रेषणीय पत्र

प्रति,

श्री गुलाम नबी आजाद

मंत्री-केन्द्रीय स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय

१५०-ए, निर्माण भवन, नई दिल्ली- ११० ००३

फोन-(०११) २३०६१६६१, २३०६१७५१, फैक्स २३७९२३४१ (आफिस) २३७९२०५२, २३७९२९४४ (नि.)

**विषय-** शाकाहार एवं मांसाहार संबंधी खाद्य पदार्थ के पैकेजों पर क्रमशः हिन्दी एवं अंग्रेजी में 'शाकाहार खाद्य' 'Vegetarian Food' तथा 'मांसाहार खाद्य' 'Non-Vegetarian Food' भी प्रतीक चिन्हों के साथ लिखे जाने के बावत।

मान्यवर,

केन्द्रीय स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय (स्वास्थ्य विभाग) के द्वारा 'खाद्य अपमिश्रण निवारण नियम १९५५' में विगत कुछ वर्ष पूर्व में कतिपय संशोधन किये थे। उनमें से दो विवरण अधोलिखित हैं-

(अ) 'भारत का राजपत्र'- असाधारण [भाग II, खण्ड ३ उप-खण्ड (i)] में स्वास्थ्य विभाग के द्वारा सं. १६६ में ४ अप्रैल २००१ को 'खाद्य अपमिश्रण निवारण (चौथा संशोधन) नियम, २००१' विषयक सा.का.नि. २४५ (अ) अधिसूचना प्रकाशित हुई है।

इस संशोधन में 'मांसाहार खाद्य' की परिभाषा निर्धारित की गई है। इसके साथ ही मांसाहार खाद्य युक्त पैकेज (Package)के ऊपर 'भूरे रंग' (Brown Colour) वाले वर्ग (Square) के भीतर, उसी रंग से भरा हुआ वृत्त (Circle) को भी बनाया जाना अनिवार्य किया गया है। यथा- □

(ब) 'भारत का राजपत्र'- असाधारण [भाग II, खण्ड ३ उप-खण्ड (i)] में स्वास्थ्य विभाग के द्वारा सं. ६३० में २० दिसम्बर, २००१ को 'खाद्य अपमिश्रण निवारण (नवां संशोधन) नियम, २००१' विषयक सा.का.नि. ९०८ (अ) अधिसूचना प्रकाशित हुई है।

इस संशोधन में 'शाकाहार खाद्य' की परिभाषा सुनिश्चित की गई है। इसके अतिरिक्त शाकाहार खाद्य युक्त पैकेज के ऊपर 'हरे रंग' (Green Colour) वाले वर्ग (Square) के भीतर, उसी रंग से भरा हुआ वृत्त (Circle) भी निर्मित करना अनिवार्य किया गया है। यथा- □

इन्हीं दोनों अधिसूचनाओं से संबंधित तीन बिन्दुओं की ओर आपका ध्यान आकृष्ट कराना चाहता हूँ। वे तीन बिन्दु निम्नलिखित हैं-

१. प्रथम अधिसूचना में असाधारण रूप से अनेक अशुद्धियाँ देखने में आ रही हैं, जो साथ में अलग से एक पत्र में उल्लेखित हैं। आपसे अपेक्षा है कि उसमें निर्दिष्ट अशुद्धियों को दूर कराने हेतु आपके द्वारा समुचित कार्रवाई की/कराई जाए।

२. दूसरी बात यह है कि उक्त दोनों संशोधनों को लागू हुए लगभग ८ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। फिर भी इनके प्रयोजनों का व्यापक प्रचार-प्रसार नहीं होने से जनसामान्य अभी भी इन प्रतीक चिन्हों से प्रायः अपरिचित ही है। मांसाहारयुक्त खाद्य पदार्थ के उत्पादक आदि के द्वारा 'भूरे रंग' के स्थान पर 'लाल रंग'



या 'गुलाबी रंग' आदि विभिन्न प्रकार के रंगों से इन्हें बनाने से भ्रम उत्पन्न हो जाता है, इस कारण से शाकाहार में विश्वास रखनेवालों के द्वारा भ्रमवशात् मांसाहारयुक्त खाद्य उत्पादों का सेवन हो जाने से उनकी आस्था एवं भावनाएँ खण्डित हो जाती हैं। उनकी धार्मिक आस्था व परम्परा के नष्ट हो जाने से वे सदा अत्यधिक मानसिक पीड़ा से पीड़ित रहते हैं।

३. तीसरी बात यह है कि उपर्युक्त दोनों ही संशोधनों को अमल में आए दीर्घ कालावधि व्यतीत हो चुकी है। फिर भी खाद्य पदार्थ के उत्पादक आदि के द्वारा अभी तक दोनों ही प्रकार के प्रतीक चिन्हों को गलत रूप में बनाते हुए देखा जा रहा है। यथा- १. किन्हीं खाद्य उत्पाद के पैकेजों या विज्ञापन आदि पर ये दोनों ही प्रतीक चिन्ह निर्दिष्ट रंगों के स्थान पर अन्य रंगों से बनाए जा रहे हैं, २. किन्हीं पैकेजों पर या विज्ञापन आदि पर अधिसूचना में निर्धारित साईज का उल्लंघन देखा जा रहा है, ३. किन्हीं पैकेजों या विज्ञापन आदि के मुख्य प्रदर्शन पैनल पर प्रतीक चिन्ह नहीं बनाकर, उसे पैकेज के पृष्ठभाग या मुख्य एवं पृष्ठभाग के मध्यवर्ती भाग में बनाया जा रहा है, ४. किन्हीं पैकेजों या विज्ञापन आदि पर प्रतीकचिन्ह को विषम पृष्ठभूमि के बिना ही मुद्रित किया जाकर भ्रम पैदा किया जा रहा है, ५. किन्हीं-किन्हीं भारतीय या विदेशी उत्पादक आदि के द्वारा खाद्य पदार्थ के पैकेजों या उनके विज्ञापन आदि पर दोनों ही प्रकार के चिन्ह मुद्रित ही नहीं किये जा रहे हैं। अतएव आपसे यह अपेक्षा है कि इस विषय में सम्बन्धित विभाग के अधिकारियों आदि को निर्देशित करें कि ऐसे गलत मुद्रणवाले खाद्य पैकेजों एवं उनके विज्ञापन आदि प्रचारसामग्री को जब्त करके उत्पादक आदि पर विधिसम्मत कार्रवाई की जाए।

चूँकि मांसाहार तथा शाकाहार युक्त खाद्य पदार्थों के पैकेजों एवं विज्ञापन आदि पर निर्धारित प्रतीक चिन्हों को बनाया जाना अनिवार्य किया ही जा चुका है, अतएव भारतीय संस्कृति के अनुरूप नागरिकों की धार्मिक आस्था, विश्वास एवं परम्पराओं को सुरक्षित बनाये रखने हेतु उपर्युक्त प्रतीक चिन्हों के साथ में मांसाहार युक्त खाद्य पदार्थ के पैकेज पर 'मांसाहार खाद्य' (Non-Vegetarian Food) तथा शाकाहार युक्त खाद्य पदार्थ के पैकेज पर 'शाकाहार खाद्य' (Vegetarian Food) दोनों ही भाषाओं में एक साथ लिखा जाना भी अनिवार्य किया जाए। क्योंकि दोनों प्रकार के प्रतीक चिन्हों की आकृति एक समान है, मात्र रंग का ही अंतर होता है। देश में अशिक्षित, अल्पशिक्षित वर्ग की संख्या अधिक है। इस कारण से उसके द्वारा अज्ञानता/भ्रमवशात् शाकाहार के स्थान पर मांसाहार खाद्य पदार्थ का उपयोग हो जाता है। किन्तु दोनों ही भाषाओं में स्पष्टतः लिखे जाने पर उन पदार्थों की पहचान हो जाएगी, फलतः गलत सामग्री के सेवन करने से बचा जा सकेगा।

इसलिये उपर्युक्त प्रस्ताव-सुझाव को अमल में लाये जाने के लिये 'खाद्य अपमिश्रण निवारण नियम-१९५५' में यथायोग्य संशोधनार्थ विभाग द्वारा समुचित कार्रवाई की/कराई जाए, ताकि उन प्रतीक चिन्हों के साथ दोनों ही भाषाओं में लिखा जाना भी सुनिश्चित किया जा सके।

माननीय सांसद महोदय/विधायक महोदय से अनुरोध है कि आप अपने सदन में एक 'अशासकीय संकल्प' रूप प्रस्ताव रखकर उसे सर्वसम्मति या बहुमत से पारित कराएँ। इस हेतु सदन में ऐसा प्रस्ताव प्रस्तुत किया जाए कि- "यह सदन केन्द्रीय स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय (स्वास्थ्य विभाग) से अनुरोध / अपेक्षा करता है कि वह खाद्य पदार्थों के पैकेज पर बनाए जा रहे प्रतीक चिन्हों के साथ में हिन्दी और अँग्रेजी दोनों भाषाओं में मांसाहारयुक्त खाद्य पदार्थ के पैकेज एवं विज्ञापन आदि पर 'मांसाहार खाद्य' (Non-Vegetarian Food) तथा शाकाहारयुक्त खाद्य पदार्थ के पैकेज एवं विज्ञापन आदि पर 'शाकाहार खाद्य' (Vegetarian Food) लिखा जाना भी अनिवार्य करे।" इस प्रयोजन के लिये आप केन्द्रीय तथा प्रादेशिक स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय से व्यक्तिगत सम्पर्क या पत्राचार करके इस संबंध में त्वरित गति से सार्थक प्रयास किये जाने की पहल करें।

शाकाहार, जीवदया, करुणा, मानवीय मूल्य, भारतीय संस्कृति की परम्पराओं एवं आदर्शों पर आस्था रखने वाले साधु-सन्तों से अपेक्षा है कि केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय को लिखे जाने हेतु वे अपने उद्बोधन में इस विषय को जनजागरण कर अधिकतम लोगों को प्रेरणा प्रदान करें। देश में इन उद्देश्यों के लिये

कार्यरत N G O, स्वयंसेवी संगठन, सामाजिक संस्थाओं, राजनैतिक दलों के पदाधिकारियों एवं कार्यकर्ताओं से भी अपेक्षा है कि वे अपने प्रभाव से श्री गुलाम नबी आजाद, केन्द्रीय मंत्री-स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय, १५०-ए, निर्माण भवन, नई दिल्ली-११० ००३, फोन (०११) २३०६१६६१, २३०६१७५१, फैक्स २३७९२३४१ (आफिस) २३७९२०५२, २३७९२९४४ (नि.) Email-azadg@sansad,nic.in एवं अपने प्रादेशिक स्वास्थ्य मंत्री महोदय से भी सम्पर्क करके इस संशोधन को करवाने हेतु सक्रियतापूर्वक प्रयास करें।

आपके द्वारा इस विषय में किए/कराए गए सत्प्रयासों की जानकारी मुझे भी उपलब्ध हो सके, ऐसी आपसे अपेक्षा है।

भवदीय

### श्री वीरेन्द्र इटोरया का आकास्मिक निधन

कुण्डलपुर के संरक्षक और मार्गदर्शक के रूप में अनेक वर्षों तक सेवार्यें देनेवाले वरिष्ठ समाजसेवी श्री वीरेन्द्र इटोरया (दमोह, म०प्र०) के आकास्मिक निधन पर कमेटी ने भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की। कमेटी के अध्यक्ष संतोष सिंघई ने अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुये कहा कि वे जीवन भर कुण्डलपुर क्षेत्र के लिये समर्पित रहे। उनके निधन से कुण्डलपुर कमेटी मार्गदर्शन विहीन हो गयी है। वे विषम परिस्थितियों में भी एक चट्टान की तरह अडिग रहते थे।

कुण्डलपुर कमेटी के क्वार्टीनेटर श्री देवेन्द्र सेठ ने कहा कि इटोरया जी के निधन से कमेटी को भारी आघात लगा है। उनमें बड़ी से बड़ी समस्या को हल करने की अद्भुत क्षमता थी। कमेटी के प्रचार प्रभारी सुनील बेजीटेरियन ने कहा कि इटोरया जी तीर्थरक्षा, विकास एवं संरक्षण में एक अहम भूमिका का निर्वहन कर दूसरों के सामने एक आदर्श प्रस्तुत करते थे। कमेटी उनके योगदान, को कभी भुला नहीं सकती। दमोह दिगम्बर जैन-पंचायत ने स्व० श्री वीरेन्द्र इटोरया को उनके द्वारा समाज के लिए किये गये विशिष्ट कार्य एवं समर्पण के लिए 'समाजरत्न' की उपाधि मरणोपरांत प्रदान करने का सर्वसम्मति से निर्णय लिया है। दमोह शाकाहार उपासना परिषद स्व० श्री वीरेन्द्र इटोरया को मरणोपरांत उनके द्वारा जैनधर्म की प्रभावना हेतु किये गये विशिष्ट कार्य के लिये 'धर्मवीर चक्र' प्रतिष्ठित पुरस्कार से सम्मानित करेगा।

सुनील बेजीटेरियन

### पं० सागरमल जैन, विदिशा का निधन

देश के प्रतिष्ठित विद्वान्, अखिल भारतीय शास्त्री परिषद् के पूर्व अध्यक्ष एवं वर्तमान संरक्षक, जैनसमाज समिति विदिशा के संरक्षक, कवि लेखक, वाणीभूषण पं० सागरमल जी जैन का स्वर्गवास ८४ वर्ष की आयु में दिनांक १५.११.०९ को सीहोर में उनके पुत्र डॉ० पंकज जैन (विभागाध्यक्ष शास. महिला पोली. महाविद्यालय, सीहोर) के यहाँ हुआ। पंडित जी विगत एक वर्ष से सीहोर में स्वास्थ्यलाभ कर रहे थे। उनकी पार्थिव देह का अन्तिम संस्कार हजारों लोगों की उपस्थिति में विदिशा के वेत्रवती तट पर हुआ। श्रद्धांजलिसभा में विभिन्न वक्ताओं ने उन्हें जिनवाणी का सच्चा सेवक, मुनिभक्त, ओजस्वी वक्ता एवं आचार्य गुरुओं के प्रति निकटता को बताया। पंडितजी अपनी शैली के लिये सदैव विख्यात रहे हैं। वे अद्भुत एवं विलक्षणबुद्धि के धनी थे। इस अवसर पर उनके पुत्र डॉ० पंकज जैन ने जो स्वयं भी एक लेखक एवं समाजसेवी हैं, उनकी स्मृति में तीन लाख रुपये दान की घोषणा की, जिससे समाज सेवा हेतु पं० सागरमल जैन स्मृति न्यास गठित होगा। पण्डित जी के परिजनों से पत्र-व्यवहार का वर्तमान पता है- डॉ० पंकज जैन विभागाध्यक्ष शास. महिला पोलीटेक्निक महाविद्यालय, सीहोर (म.प्र.) पिन-४६६००१

संतोष जैन

'जिनभाषित' परिवार भी श्री वीरेन्द्र इटोरिया एवं पं० सागरमल जी जैन के निधन से शोकाकुल है। वह भी उनके लिए हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

प्रो० रतनचन्द्र जैन (सम्पादक)



# मुनि श्री क्षमासागर जी की कविताएँ

- मुनि श्री क्षमासागर जी

## लोग

कभी कहीं  
कोई घटना होती है  
तो लोगों को  
बहुत कुछ  
कहने-सुनने की  
गुंजाइश मिलती है  
हम लोग तो  
चाहते ही यही हैं  
कि जरा परदा हटे  
और हम सब देख लें  
कि जरा कोई छिद्र हो  
और हम झाँक लें  
घटना क्या हुई  
इससे हमें  
कोई सरोकार नहीं  
हम जो चाहेंगे  
वही देखेंगे  
(जो हुआ वह नहीं देखेंगे)  
भीड़ में  
कोई हमें  
सजग / संवेदनशील कहे  
हम इतना ही चाहेंगे।

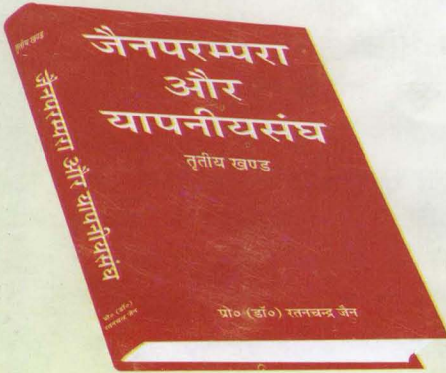
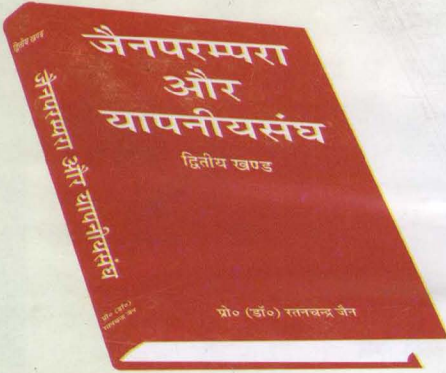
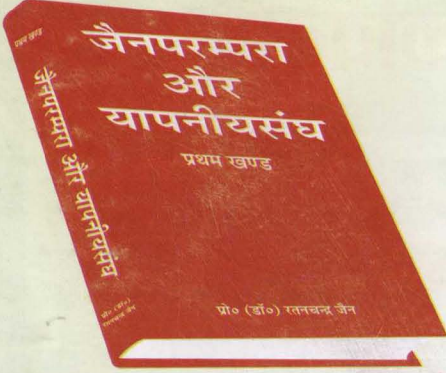
## और शायद

हम यहाँ  
दो-चार कदम चले  
और ठहर गये  
सोचने लगे  
कि जब सब  
आपोआप  
समय आने पर होगा  
तब हमें  
क्यों व्यर्थ चलना है  
और यदि चले भी  
तो पहुँचेंगे-  
इसका क्या भरोसा है  
चलो यहीं ठहर जाते हैं  
आखिर  
कहीं-न-कहीं पहुँच कर  
ठहरना ही तो है  
तब से हम  
यहीं ठहरे हैं  
और शायद  
मन-ही-मन  
हँसते भी हैं  
कि चलनेवाले  
कितने नासमझ हैं!

'पगडंडी सूरज तक' से साभार

## प्रकाशित हो गया है

प.पू. आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के तत्त्वावधान में प्रो. रतनचन्द्र जैन (भोपाल, म.प्र.) के द्वारा दस वर्षों के अनवरत परिश्रम से लिखित, तीन खण्डों एवं 2600 पृष्ठों में समाया चिरप्रतीक्षित ग्रन्थ **जैनपरम्परा और यापनीयसंघ**, जिसमें दिगम्बरजैनमत के इतिहास, साहित्य, सिद्धान्त एवं आचार पर डाले गये असत्य के आवरण को भेदने का सफल प्रयास किया गया है।



- अनेक श्वेताम्बर जैन मुनियों एवं विद्वानों तथा कुछ दिगम्बरजैन विद्वानों ने दिगम्बरजैन-मत के इतिहास, साहित्य, सिद्धान्त और आचार को मिथ्यारूप में प्रस्तुत किया है। जैसे, वे लिखते हैं कि - (1) दिगम्बर जैन-मत तीर्थकरप्रणीत नहीं है, अपितु उसे ईसा की प्रथम शती में शिवभूति नाम के श्वेताम्बर साधु ने चलाया था अथवा ईसा की पाँचवीं शती में आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवर्तित किया था, जो उस समय यापनीय (दिगम्बरवेश एवं श्वेताम्बरीय सिद्धान्तों के अनुयायी) संघ के साधु या भट्टारक-सम्प्रदाय में भट्टारक थे। (2) कुन्दकुन्द ने यापनीयमत में संशोधन कर दिगम्बरमत चलाया था। (3) दिगम्बर जैनमत तीर्थकरप्रणीत न होने से निह्वनमत (मिथ्यामत) है। (4) आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्व प्रथम शताब्दी में नहीं, बल्कि ईसोत्तर पाँचवीं शताब्दी में हुए थे। अतः दिगम्बरजैनमत प्राचीन नहीं है। (5) दिगम्बरजैन मुनियों का नगनवेश लज्जाजनक, लोकमर्यादाविरुद्ध, संयमघातक और स्त्रीशीलदूषक है, अत एव मोक्ष में बाधक है। (6) दिगम्बर-मुनियों को औषधि पिलाकर नपुंसक बनाया जाता है। (7) षट्खण्डागम, कसायपाहुड, भगवती-आराधना, मूलाचार, तत्त्वार्थसूत्र आदि 18 दिगम्बरमान्य ग्रन्थ दिगम्बरग्रन्थ नहीं हैं, अपितु यापनीय-ग्रन्थ हैं, क्योंकि उनमें सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति आदि को मान्यता दी गयी है।
- इन समस्त एवं अन्य अनेक मिथ्यावादों का खण्डन प्रस्तुत ग्रन्थ **जैनपरम्परा और यापनीयसंघ** में किया गया है, उन अकाट्य प्रमाणों के द्वारा जो दिगम्बर-श्वेताम्बर-यापनीय-जैनसाहित्य, वैदिक एवं बौद्ध साहित्य, संस्कृत गद्य-पद्य-नाट्य-साहित्य तथा शिलालेखों और पुरातत्त्व के गहन अध्ययन से उपलब्ध हुए हैं।
- दिगम्बरजैन-मत के इतिहास आदि को मिथ्यारूप में प्रस्तुत करनेवाले ग्रन्थों को पढ़कर उन दिगम्बर जैनों एवं जैनेतरों के द्वारा मिथ्या को सत्य समझ लेने की प्रबल संभावना है, जो सत्य को दर्शानेवाले प्रमाणों से अनभिज्ञ हैं। अतः इस अनिष्ट को टालने के लिए प्रत्येक दिगम्बर जैन श्रावक-श्राविका एवं मुनि-आर्थिका को उन प्रमाणों से अवगत होना अत्यन्त आवश्यक है। यह प्रस्तुत ग्रन्थ के अनुशीलन से ही संभव है।
- यह ग्रन्थ शोधार्थियों के लिए भी अत्यन्त उपयोगी है। अतः प्रत्येक जैनमन्दिर, जैनशिक्षणसंस्थान, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय एवं शोधसंस्थान में संग्रहणीय है।

• प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान : सर्वोदय जैन विद्यापीठ, 1/205, प्रोफेसर्स कालोनी, आगरा - 282002  
फोन : 0562-2852278, मो. 9412264445

• मूल्य : प्रत्येक खण्ड 500 रु., पूरा सेट (तीनों खण्ड) 750 रु. एवं डाकव्यय 150 रु. = कुल 900 रु.।  
ड्राफ्ट प्रकाशक के पते पर भेजें।

स्वामी, प्रकाशक एवं मुद्रक : रतनलाल बैनाड़ा द्वारा एकलव्य ऑफसेट सहकारी मुद्रणालय संस्था मर्यादित, 210, जोन-1, एम.पी. नगर, भोपाल (म.प्र.) से मद्रित एवं 1/205 प्रोफेसर्स कॉलोनी, आगरा-282002 (उ.प्र.) से प्रकाशित। संपादक : रतनचन्द्र जैन।